मेरे किसी भी गोस्वामिबन्धुद्वारा देवद्रव्यके उपभोग या देवलकतावृत्ति को करनेपर न तो मुझे एक रुपया कम मिल रहा है और न इस असद्वृत्ति कोई छोड देगा तो मुझे एक भी रुपया ज्यादा मिलने लग जायेगा. श्रीमहाप्रभुके दिव्य सिद्धान्तोंको घोषित करनेपर लोग कटुसत्यभाषी या हितभाषी कहकर मेरी प्रशंसा करें या पुष्टिमार्गी जनताको बरगलानेवाला कहकर मेरी निन्दा करें; इससे भी मुझे कोई अन्तर नहीं पडता!

मुझे जो पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त जिस रूपमें समझमें आये हैं वह मेरी समझ सच है या गलत यह तो श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरण-सप्तात्मज-पौत्र-प्रपौत्रादिके प्राचीन ग्रन्थ ही निर्णय कर सकते हैं!

उन दिव्य सिद्धान्तोंको मेरे गोस्वामिबन्धु माने-कहें-अनुसरें या न मानें–न कहें–न अनुसरें; मुझे उनसे क्या लेना-देना है —ऐसी "जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः"की उपेक्षामयी अहंता मेरे भीतर है नहीं. पुष्टिमार्गपर चलनेवाले प्रत्येक सहपथिकके प्रति उन्हें सहयात्री माननेकी अपेक्षामयी वयंता ही मुझे अधिक सुहाती है!

इसलिये कहता रहूंगा, कहता रहूंगा और कहता ही रहूंगा; श्रीमहाप्रभुके दिव्य सिद्धान्त जैसे इस वर्ष कहता रहा वैसे ही आगामी वर्षोंमें भी, जैसे इस जन्ममें कह रहा हूं वैसे ही आगामी जन्मोंमें भी!

भूल जिन जाय मन अनत मेरो!

—*गोस्वामी श्याममनोहर*

---

(१)

जो कटोरी (गिरवी) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यको आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापति[illegible] होयगो. [illegible] वा [illegible] भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो. वाके [illegible] खवायो [illegible] पधरायो.

—पुष्टिसिद्धान्तप्राकटयकारी महाप्रभु श्रीवल्लभ (घरुवार्ता ३).

विशोधनिका

(प्रथम प्रकरण)

(२)

वैष्णवे सेवा, भगवद्स्मरण, भगवद्धर्म इनमें पाखंड न करनो. ओर काहुके दिखायवेके अर्थ, पुजा अर्थ, उद्धारार्थे न करे. आपनो सहज धर्म जानें, जेसे ब्राह्मण गायत्री जपे. लाभ संतोषसुं सेवा करे...ओर विवेक बिना पुजा सेवा करे तो नर्कमें पडे, ओर पाखंडीकी पूजा,सेवा प्रभु अंगीकार न करे...अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा आपुही करनी. ओर उत्सवादि समय अनुसार अपने वित्त अनुसार वस्त्र, आभुषण, भांतिभांतिके मनोरथ करि सामग्री करनी...सो रीतिप्रमाण यथाशक्ति करनी. जो द्रव्य होय सो श्रीकृष्णके अर्थ लगावनो, कृपणता नाहीं करनी.

—पुष्टिसिद्धान्तपालनकारी श्रीवल्लभ गोकुलनाथजी (२४ वचनामृत : ६ तथा १०).

(३)

...श्रीठाकुरजी पधरायके सेवा करन लागी. सुत कांतीके निर्वाह चलावे. हरहंमेश अढाई आने कमावे तासों निर्वाह आनंदसों चलावे. तब एक दिन एक वैष्णवने रुपीआ पांच देके कह्यो— आज श्रीठाकुरजीको आछी भांतसों आरोगावो. तब श्रीठाकुरजीके लिये बहोत प्रकारके व्यंजन किये, छेऊ रसको राजभोग धरे. पीछे श्रीको अनोसर कियो. तब श्रीठाकुरजी किशोरीबाईसों कहे—मोकुं भुख लागी है. तब किशोरीबाईने कह्यो— आज बहोत सामग्री आरोगाई है, तब भुखे क्यों भये? तब श्रीठाकुरजी कहे— आज तैंने पराई सत्ता धराई है, सो मैं नहि आरोग्यो. तातें वैष्णवको पराई वस्तु अंगीकार न करावनी.

—पुष्टिसिद्धान्तपोषणकारी श्रीवल्लभ (कामवनवाले) (६९ वचनामृत : ५३)

गोस्वामी श्याममनोहर

सेवा ए जाहेर कार्य के जाहेर प्रवृत्ति नथी परन्तु सेवा ए पोताना आंतरिक जीवन साथे संबंध धरावती होवाथी ते आपणा जीवननी आपणा निजी घरमां थती स्वधर्मरूप प्रवृत्ति छे... पोताना माथे बिराजता स्वरूपनी सेवा वगेरेनो पोताना अंगत धर्माचरण तरीके ते ते बालकोनो ज अधिकार अने कर्तव्य छे.

—अधुना पुष्टिसिद्धान्तविनाशार्थ विमर्शकारी श्रीवल्लभ (सुरतवाले)
(पुष्टिने शीतल छांयडे : भाग १ पृ.१५८).

प्रकाशक-प्राप्तिस्थल :
गोस्वामी श्याममनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम,
पारले, मुंबई-४०००५६.

प्रति : ५०००.

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०४९.

श्री पी.कुंभनानीभाईके आर्थिक सहयोगसे
तथा
चि.असित, चि.विपुल तथा चि.मनीष के मुद्रणोपयोगी सहयोगसे

निःशुल्कवितरणार्थ

मेरे दादाजी(नित्यलीलास्थित गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज)के मुखसे मैंने प्रमेयरत्नार्णव, सव्याख्य षोडशग्रन्थ, अवतारवादावलीके प्रायः सभी वाद तथा अंशतः निबन्ध-भाष्यादि ग्रन्थोंका अक्षरशः पांक्तालापनकी प्रक्रियासे श्रवण-मनन किया था. वह मेरे प्रति उनकी सहज कर्तव्य-बुद्धिप्रेरित वात्सल्याभिव्यक्ति थी. ऐसी कि उसके बारेमें मुखरित होना भी अनावश्यक ही है. फिर भी वक्तृत्व-पाण्डित्य-निरुपधि-भगवद्भजन-भगवत्कथा-रूप आचार्योचितधर्मके अक्षुण्ण निर्वाहक प्रातःस्मरणीय नित्यलीलास्थित श्रीगोविन्दरायजी(सुरत)फूफाजीके यादृच्छिक सान्निध्यमें मैंने श्रुताधीत सिद्धान्तोंके दर्शन-निदिध्यासनका दुर्लभ लाभ यदा-कदा प्राप्त किया था. आज उन्हीं दोनों गुरुचरणोंको मैं मेरा यह ग्रन्थ समर्पित करता हूं, साभिवन्दन!

◆

विनीत
गोस्वामी श्याममनोहर

अनुक्रमणिका

आमुखदर्पण १-१९

इसके अन्तर्गत आलोच्य 'विमर्श'ग्रन्थके लेखकोंकी पूर्वधारणा, पूर्वस्वीकृतिओं तथा पूर्वाचरणों की पृष्ठभूमिमें अधुना प्रकटित ग्रन्थकी एकवाक्यताकी परीक्षा की गई है.

सेवाप्रकरण १-५६

(I) पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाका प्रामाणिक स्वरूप: श्रीमहाप्रभुविरचित सिद्धान्तमुक्तावलीस्थ वचनके आधारपर 'विमर्श'की विशोधनिका १-५

(II) सिद्धान्तमुक्तावलीकारिकाओंके अष्टधा विभागपूर्वक श्रीप्रभुचरणविरचित विवृतिका आधार लेकर 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तपूर्ण विवृति-व्याख्याकी विशोधनिका. इसी तरह वित्तदान तथा वित्तपरिग्रह के अनेकविध शास्त्रीय स्वरूपोंकी विवेचनाके सन्दर्भमें सेवार्थ वित्तदान तथा सेवार्थ वित्तपरिग्रह के 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तोंकी विशोधनिका ५-३३

(III) उल्लिखित अष्टधा विभागोंपर प्रभुचरणोत्तर-कालीन विभिन्न व्याख्याकार, नामतः, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीवल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी, श्रीद्वारकेशजी, श्रीविठ्ठलरायजी, तथा श्रीनरसिंहलालजी द्वारा की गई व्याख्याओंके आधारपर 'विमर्शो'क्त अपसिद्धान्तोंकी विशोधनिका ३३-५४

(IIII) उपसंहार ५४-५६

परिशिष्ट ५७-५९

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

आमुख-दर्पण

स्वेषु पुष्टिकरं कारादैत्यबुद्धितमस्करम्।
नमस्करोमि तं श्यामं सुन्दरं मत्प्रियंकरम्॥

(१) सेवोपदेशदीक्षा (२) सेवास्वरूप (३) सेवाप्रदर्शन (४) सेवाप्रयोजन (५) सेवास्थल (६) सेव्यस्वरूप (७) सेवार्थ आजीविका (८) सेवाकर्ता-सेवापरिचारक (९) सेवापदेष्टा (१०) भागवतकथा (११) स्वसेव्यस्वरूप-प्रसादग्रहण (१२) तीथपर्यटन (१३) आचार्यवचनाशय-निर्धारणप्रकार.

ये वे मुद्दे हैं जिनपर दि. १०-१३ जनवरी ९२ विश्वकर्मा बाग पार्ले,मुंबई में आयोजित पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभामें परिचर्चा होनी थी. एतदर्थ स्वमार्गीय मूलग्रन्थोंमें से सभावानुवाद 'सिद्धान्तवचनावली' विचारार्थ प्रस्तुत की गई थी. प्रदत्त भावानुवादके समर्थनमें मूलाचार्यवचनसे प्रारम्भ कर प्राचीन ग्रन्थकारों तथा अर्वाचीन गोस्वामिमहानुभावों के भी विधानोंको 'अमृतवचनावली' नामसे संकलित किया गया था. आचार्यवचनाशय-निर्धारणप्रकारके अन्तर्गत प्रामाण्यव्यवस्था सुनिर्धारित थी कि सर्वमूल श्रीमहाप्रभुसे प्रारम्भ कर अपनेसे एक पीढी ऊपर स्थित पूर्वजतक जिस अर्थमें एकवाक्यता मिलती हो उससे विपरीत अर्थोंकि ऊहको प्रामाणिक नहीं माना जायेगा. अपनेसे पूर्वपीढीके भी किसी महानुभावका उनकी पीढीसे पूर्वके ग्रन्थकारोंके अभिप्रायसे विपरीत वचनको प्रामाणिक नहीं माना जायेगा. एतदर्थ मेरे द्वारा उपस्थापित भावार्थके बारेमें मेरसे पूर्वापर पीढीके अनेक गोस्वामी महानुभावोंके विधानोंकी अमृतवचनावलीमें एकवाक्यता प्रदर्शित की गई थी. इसके अन्तर्गत पू. पा. गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री (सूरत) तथा इनके पौत्र गो. श्रीबालकृष्णलालजी तथा गो. श्रीवल्लभरायजी के वचन भी संकलित थे...

... परंतु अक्षम्य कालक्षेप करवा देनेकी कूटनीतिके कारण उक्त चर्चासभा किसी निर्णायक बिन्दुतक पहोंच न पाई. फिर भी चर्चासभाके तीसरे दिन उस सभामें श्रीहरिराय(जामनगर)का अपना पक्ष क्या है यह वे स्पष्ट शब्दोमें घोषित नहीं करते तो मैं (गो. श्या.म.) भाग नहीं लूंगा, ऐसी स्पष्ट घोषणा करनेपर कई गोस्वामी महानुभावोंके अघोषित प्रतिनिधि गो. चि. श्रीहरिरायजी (जामनगर) को सरोष-सखेद उनके द्वारा ग्रहीत पक्ष घोषित करने ही पडे! चर्चासभाकी संपूर्ण कार्यवाहीकी उतारी गई ओडियो-वीडियो केसेटके आधारपर तैयार किया गया विवरण 'विस्तृत विवरण' नामसे प्रकाशित करवा दिया गया.

चर्चा जिस मुकाम तक पहुंच पायी उससे और आगे बढानेके लिए 'संक्षिप्त विवरण' नामसे एक पुस्तिका पहले ही प्रकाशित करवा दी थी. अत: उन सारी बातोंका अब पिष्टपेषण अनावश्यक ही है.

फिर भी सिंहावलोकन विधिसे इनके उल्लेखका प्रयोजन यह है कि चर्चासभाके तीसरे दिन पक्षग्रहणकी प्रक्रियाके अन्तर्गत गो. श्रीहरिरायजीको जो भी कुछ स्वीकारना पडा वह उन्हें अपना अघोषित प्रतिनिधि बनानेवालों द्वारा अपनायी हुई भगवत्सेवाप्रणालीसे तथा स्वयं श्रीहरिरायजी द्वारा भी अपना रखी भगवत्सेवाप्रणाली से भी सर्वथा विरुद्ध जानेवाली बातें थी. लिहाजा रात्रिको संवादस्थापकमण्डलके अनेक सदस्योंकी उपस्थितिमें घरपर आकर गो. श्रीहरिरायजी परिचर्चाको स्थगित करनेका अनुरोध करते हुए समझाने लगे कि कैसे पूर्वनिर्धारित संवाद बोलकर सभामें मुझे तथा श्रीहरिरायजीको परस्पर सहमति प्रदर्शित कर देनी चाहिये. एतदर्थ मेरे अनुद्यत होनेपर श्रीहरिरायजी समझाने लगे कि कैसे स्वमार्गका अहित हो जायेगा. तिसपर मैंने यह सुझाव दिया कि स्वस्वपक्षनिरूपण ही इस चर्चासभाका मुख्य प्रयोजन था, सो पूर्ण हो जानेके कारण चर्चा स्थगित की जाती है ऐसे घोषित किया जा सकता है. गो. श्रीहरिरायजीने इसपर, कोई उन्हें पराजित न मान ले यह आशंका प्रकट की. तिसपर मैं संवादस्थापकमण्डल और श्रीहरिरायजी एकमत हुए कि चर्चाको अनिर्णीत घोषित किया जाये. तदनुसार चतुर्थ दिन घोषित भी करवा दिया गया था. निरर्थक भाषणोंके द्वारा चतुर्थ दिनकी कार्यवाहीको यथाकथंचित् सम्पन्न किया गया. परन्तु बादमें पू. पा. तिलकायत महाराजश्री तथा पू.पा. गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने संयुक्त हस्ताक्षरोंसे अंकित अभिनन्दनपत्र श्रीहरिरायजीको प्रदान कर दिया. उसमें यह उल्लेख किया गया कि श्रीहरिरायजीने सभामें जो सिद्धान्तपक्ष स्थापित किया वह उचित तथा भूरिशः प्रशंसनीय है!

इससे क्षुब्ध होकर संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंने उस सभाकी कार्यवाहीमें व्यवधानार्थ आपत्ति प्रस्तुत की, जब अभिनन्दनपत्र गो. श्रीवल्लभरायजी वीडियो केमेराके सामने पढ कर सुना रहे थे. बादमें श्रीहरिरायजको घेर कर मेरे घर लाया गया. ऐसे नाटककी क्या आवश्यकता थी यह में पूछ पाऊं उससे पहले श्रीहरिरायजीने कहा कि पूर्वसूचना दिये बिना बडोंने यह कृत्य किया है, जिनका अनादर वे कर नहीं पाये. तब मैंने कहा कि कोई बात नहीं, यह अभिनन्दन किसी तरहकी निर्णायकताका प्रमाण नहीं है ऐसे आशयका पत्र हम दोनों तथा संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंके भी हस्ताक्षरोंसे अंकित कर रख लेना चाहिये. वह तैयार किया गया और बादमें समाचारपत्रोंमें मुझे प्रकाशित भी करवाना पड़ा, क्योंकि इसके बाद अभिनन्दनपत्र पानेकी खुशीमें अभिनन्दनपत्र पानेकी सभाओंके सचित्र वृत्तान्त समाचारपत्रोंमें प्रकाशित होने लगे!

फिर तो सर्वथा निराधार अनर्गल और जनताको बरगलानेवाले निवेदनोंका समाचारपत्रोंमें तांता लग गया. विवशतया मुझे भी अपने स्पष्टीकरण देते रहनेको बाधित होना पडा. स्वाभाविकतया मार्गके हितैषियोंका इस आन्तरिक कलहको सार्वजनिक बनानेकी कूटनीतिसे दु:खी होना उचित ही था. वैसे सभीने मुझे ही प्राय: कोसा था कि वह सब मैं कर रहा था, क्योंकि पर्देके पीछे खेले जाते खेलसे सभीको अवगत हो जानेकी सुविधा उपलब्ध नहीं होती. कई लोग कहते हैं –इस विवादको आपसमें मिल-बैठ कर सुलझाना चाहिये.

परन्तु एक हकीकत यह भी है एतदर्थ सर्वप्रथम मैंने पू.पा.गो.श्रीतिलकायत महाराजश्रीसे उनकी अध्यक्षतामें गोस्वामिओंकी एक बैठक आयोजित करनेकी विनती की थी, क्योंकि ग्रन्थस्थ सिद्धान्त कुछ और हैं, व्यवहारमें कुछ और न्यायालय कुछ तीसरी ही बात हमारे सिद्धान्तोंके बारेमें मान कर चलते हैं. तिसपर पू.पा.तिलकायित महाराजश्रीने मुझे कहा कि नाथद्वाराके मुकद्दमेंके सुप्रीम कोर्टके फैसलेको बदल पाना अब शक्य नहीं है अत: जो-जैसा कुछ मिला है उससे वे सन्तुष्ट हैं; तथा मेरे जैसे गोस्वामिओंकी इसके कारण जो कठिनाईयां हैं उन्हें वे गोस्वामी स्वयं सुलझा पायेंगे ऐसी शुभकामना रखते हैं. इसके बाद स्वमार्गमें ज्ञानवयोवृद्ध पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीकी अध्यक्षतामें सभी गोस्वामिओंकी एक बैठक बुलाई जाये ऐसी प्रार्थना पू. पा. महाराजश्रीसे मैंने की. तदनुसार पू.पा.महाराजश्रीके यहां मुंबईके यदुनाथजीके मंदिरमें सभा आयोजित हुई. इस सभामें उपस्थित सभी गोस्वामिमहानुभाव एक संयुक्त घोषणापत्र द्वारा स्वमार्गीय भगवत्सेवा आदि विषयोंसे सम्बद्ध सिद्धान्त एवं परम्परा का सुस्पष्ट निर्देश दें यह प्रस्तावित था. किसी कारणवश यह शक्य न हो पाये तो एक वैकल्पिक उपाय सिद्धान्तविपरीत सेवा-मनोरथ-दर्शन-प्रसाद-कथाके आयोजनोंमें सहयोगी न बनने के आत्मनिर्णयको घोषित करनेवाला एक शपथपत्र भी तैयार किया गया था.

सखेद, परन्तु, यह स्वीकारना पडता है कि पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने उस सभामें सम्मिलित होना न जाने क्यों उचित नहीं समझा! उस गोस्वामिओंकी बैठकसे एक दिन पहले मेरे घरपर गो. श्रीकल्याणरायजी पधारे थे उन्हें शपथपत्रका प्रारूप पढ़ कर मैंने सुनाया था और सैद्धान्तिक दृष्टिसे जो अनुचित हो उसका निर्देश देनेकी विनती की. पर्याप्त धीरजसे पढ कर उन्होंने कहा कि सभी कुछ ठीक ही है. तब मैंने अनुरोध किया कि आपके भी हस्ताक्षर इसपर हो जायें तो अच्छा! इतना सुनते ही श्रीकल्याणरायजी चुपचाप मेरे यहांसे खिसक गये. दूसरे या तीसरे दिन गोस्वामिओंकी बैठक सुरतवालोंकी पूर्वोक्त हवेलीमें हुई जिसमें श्रीकल्याणरायजी तो अनुपस्थित थे

परन्तु श्रीबालकृष्णलालजी उपस्थित थे. उपस्थित गोस्वामिओंमें वयसा ज्येष्ठ श्रीगोविन्दरायजी(पोरबन्दर) थे सो उनकी अध्यक्षतामें बैठक सम्पन्न हुई. संयुक्त घोषणापत्रका प्रारूप पढ कर सुनाया गया, एक प्रति श्रीबालकृष्णलालजीको भी दी गई थी. तब सभी महानुभावोंने निरपवाद सहमति प्रदान करते हुए अपने-अपने हस्ताक्षरोंसे उसे अंकित किया जिनमें श्रीबालकृणलालजी तथा उक्त बैठकके अध्यक्ष श्रीगोविन्दरायजी(पोरबन्दर) के हस्ताक्षर भी थे ही.

बादमें अध्यक्ष तथा स्वयं के हस्ताक्षरोंसे अंकित एक स्पष्टीकरणका छोटा पुर्जा श्रीबालकृष्णलालजी तथा श्रीकल्याणरायजी मेरे घरपर ले कर आये कि उक्त बैठकमें सुप्रीम कोर्टमें रीव्युपिटिशनमें जानेके एक निर्णयके अलावा अन्य किसी भी निर्णयके साथ उनकी सहमति न मानी जाये –ऐसा स्पष्ट उल्लेख था. लिहाजा संयुक्त घोषणापत्रगत अध्यक्ष महोदय तथा श्रीबालकृष्णलालजी के हस्ताक्षरोंपर मैने व्हाईटनर लगा दिया. तब श्रीबालुराजा और श्रीकल्याणरायजी ने विस्मय प्रकट किया कि कहीं हस्ताक्षर पुनः तो उभर नहीं आयेंगे! तब मैंने आश्वस्त किया यदि उभरे भी तो उन्हें पुनःपुनः व्हाईटनरके प्रयोग द्वारा ढंकता रहूंगा! तिसपर श्रीबालुराजाने कई वैष्णवोंकी उपस्थितिमें कहा कि सिद्धांततया तो हमें सभी कुछ मान्य है परन्तु जब तक कोई दूसरा व्यवसाय चारपांच वर्षपर्यन्त जम नहीं जाये तब तक भगवत्सेवार्थ परवित्त न लेनेका दुराग्रह करना उचित नहीं होगा. यह सुन कर मैं तो समुपस्थित वैष्णवोंसमेत हतप्रभ हो गया! श्रीकल्याणरायजीने, तिसपर, यह खुलासा दिया था कि ऐसा कहनेसे तो हम देवलक सिद्ध हो जायेंगे. सो श्रीबालुराजाने तब श्रीकल्याणरायजीको ही कैसे कहना यह सुझानेका आग्रह किया. तिसपर श्रीकल्याणरायजीने कहा कि ऐसे कहना चाहिये कि हमें तो सभी सिद्धान्त मान्य हैं परन्तु अपनी अवयस्कतामें क्योंकि हमारे पितामह (पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री) वणिक ट्रस्टियोंके मार्गदर्शनाधीन रहे थे अतः उनकी मनोवृत्ति सिद्धान्तशुद्ध नहीं है, परन्तु बडोंकी आज्ञाके विरुद्ध हम क्या कर सकते हैं! तब श्रीबालुराजाने भी इस खुलासाके साथ अपनी सहमति-संतुष्टि प्रदर्शित की... बादमें निजहस्ताक्षरोपेत एक पत्र (दि. २२-१०-८६), संयुक्त घोषणापत्रगत “**बिना ब्रह्मसम्बन्ध दिये भी अपने घरमें भगवत्सेवाकी छूट तो है ही**” वाक्यके अलावा सारेके सारे संयुक्त घोषणापत्रगत विधानोंको योग्यतया मान्यता प्रदान करनेवाला, प्रेषित किया गया था. उल्लेखनीय है कि उसमें स्वगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी भावसंगोपनात्मिका अव्यावसायिक-अपौरोहित्यात्मिका स्वतनुवित्तपरिजनविनियोगात्मिका सेवाका सिद्धान्त ही प्रस्तुत हुआ था. इस तरह बन्द दरवाजोंमें आपसमें विवाद सुलझानेके प्रयासोंकी प्रभावहीनताका सुस्पष्ट प्रमाण यह है कि अधुनाप्रकाशित सेवा-देवद्रव्यादिविमर्शमें

इन्हीं दोनों श्रीबालकृष्णलालजी तथा श्रीकल्याणरायजी के नाम भी जुडे हुए हैं! अस्तु.

विश्वकर्मा बाग पार्ले-मुंबईवाली सार्वजनिकसभामें मेरेद्वारा प्रदत्त सिद्धान्त वचनावलीके भावानुवादके साथ अपनी असहमति तथा गोस्वामी श्रीहरिरायजीके द्वारा ग्रहीत पक्षकी भूरिभूरि प्रशंसा करनेवाले श्रीवल्लभरायजी मेरे खण्डनार्थ एक जबरदस्त ग्रन्थ लिखनेवाले हैं - लिख रहे हैं - लिख लिया है - प्रकाशित करवा देंगे - प्रकाशित हो गया है - पोद्दार हाउसमें अनावरण भी हो गया है —ऐसी कर्णोपकर्ण बातें सुनाई देती रही और ग्रन्थदर्शनालालसा मेरी तीव्रसे तीव्रतर होती चली गई. परसों (९-९-९२) के दिन सहसा वह जब मेरे हस्तगत हुआ तो मेरे विस्मय की कोई सीमा नहीं रही! क्योंकि इस ग्रन्थका वास्तविक कर्ता कौन है यह जान पाना भी दुष्कर परीक्षण हो गया!

मुखपृष्ठपर पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीका नाम ऐसे छपा है मानों वे इस ग्रन्थके कर्ता हो. भीतर प्रकाशकीय-सर्वाधिकारसुरक्षापृष्ठपर पू. पा. महाराजश्रीके नामके साथ तीन और नाम जुडे हुए मिले. यथा (१) गो. श्रीबालकृष्णलालजी (२) गो. श्रीकल्याणरायजी तथा (३) गो. श्रीवल्लभराय दीक्षित. पू. पा. महाराजश्री नामके साथ प्रकाशित आमुखको पढनेपर तो अचंभेमें डाल देनेवाली कई बातें सामने आती है. अतएव उस आमुखके कुछ उल्लेखनीय अंशोंपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा.

“...वर्तमान शताब्दीमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परा उच्छिन्नप्राय हो जानेसे तथा तत्त्वपक्षपाती विद्वानोंकी संगति दुर्लभ हो जानेसे अनेक विषयोंमें सन्देह एवं भ्रान्ति व्याप्त हैं. इस स्थितिको देखते हुए **सेवा-देवद्रव्य आदिके विषयमें वास्तविक तथ्यको विदित कर** उसे कहीं **लिपिबद्ध कर देना** आवश्यक प्रतीत हुआ. तदनुसार हमने उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर इस ग्रन्थमें सेवा देवद्रव्यादि विषयमें **विचारोंको स्वान्तःसुखाय लिपिबद्ध कराया है... उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर ग्रन्थका प्रणयन किया गया है. अतः अन्य प्रमाणोंके उपलब्ध होनेपर** ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें आवश्यक **परिवर्तन** एवं **परिवर्धन** किया जा सकता है... **हमारे पूर्वके लेखन एवं वक्तव्यको इस ग्रन्थके अविरोधसे ही ग्रहण करना चाहिये.** यह हमारा निवेदन है... ग्रन्थ में कुल ९ प्रकरण हैं - (१) कृष्णसेवा प्रकरण (२) देवद्रव्य प्रकरण (३) देवलक प्रकरण (४) ट्रस्ट प्रकरण (५) भावसंगोपन प्रकरण (६) सेतिहास ब्रह्मसम्बन्ध प्रकरण (७) मंत्रविक्रयाशंकानिरसन प्रकरण (८) गुरुशिष्यनियम् प्रकरण (९) भागवतकथा प्रकरण. इनमेंसे प्रारम्भके पांच प्रकरण ग्रन्थके पूर्वार्धमें आते हैं, अवशिष्ट चार प्रकरण उत्तरार्धमें आयेंगे...”

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाके तेरह मुद्दोंमेंसे कुछ कुछ मुद्दे यहां परिग्रहीत हुए है. जो छूट गये हैं उन्हें ''अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति'' न्यायके अनुसार मान्य समझना अथवा ''अनावश्यकम् उपेक्षणीयं भवति'' न्यायके अनुसार उपेक्षणीय समझना यह भी समझमें नहीं आया. सन्देहनिराकरणार्थ प्रवृत्तिमें सन्देहजनक विधानोंका होना यानि स्पष्टताका अभाव होना या तो अनुभवहीनता या किसी दुराव-छिपाव की वृत्तिको प्रकट करता है.

पू.पा.महाराजश्री सम्प्रदायमें न केवल ज्येष्ठतम वयोवृद्ध अपितु विद्यास्वाध्यायतपोवृद्ध भी हैं ही. अतः कमसे कम मेरा अन्तर तो गवाही नहीं देता कि सेवा-देवद्रव्यादि जैसे महत्त्वपूर्ण तथा बहुधा चर्चित विषयमें साम्प्रदायिक ग्रन्थगत कोई भी प्रमाणवचन अपनी आयुके इस भागमें भी इस तरह अनुपलब्ध रह गये हों कि उन्हें विदित करके लिपिबद्ध कराने पडे! सो भी इस भीति और संशयात्मता के साथ कि अन्य प्रमाणवचन उपलब्ध होनेपर इस ग्रन्थमें परिवर्तन-परिवर्धन भी किया जा सकेगा!! अपने पूर्वलेख एवं पूर्ववक्तव्यों को इस ग्रन्थसे अविरोधसे लेनेके पू. पा. महाराजश्रीके निवेदनमें भी अन्तिमेत्थंके सुर-काकूकी जगह पूर्वकालीन लेखन-वक्तव्योंके बारेमें अज्ञान संशय भ्रान्ति अथवा मिथ्याभाषण का दैन्य और इस वक्तव्यमें अनिश्चयात्मकता अर्थात् संशयात्मकताकी मनोवृत्ति इस आमुखके पू. पा. महाराजश्री द्वारा लिखित होनेके दावेपर एक प्रश्नचिन्हका धब्बा सा लगा देती है!

प्रकाशकीय पृष्ठपर प्रथम तीन नाम ही 'जी'कार सहित प्रयुक्त हुए हैं, केवल 'श्रीवल्लभराय दीक्षित' 'जी'काररहित प्रयुक्त हुआ है. कहीं इसीमें आमुखकी प्रामाणिकतापर लगे प्रश्नचिन्हका गूढ उत्तर तो ध्वनित नहीं हो रहा!

उल्लेखनीय है कि आमुखके ये शब्द - ''हमने लिपिबद्ध कराया है'' भी ग्रन्थकर्ता, ग्रंन्थनिर्माणप्रेरक, अथवा निर्मितग्रन्थशुभाशंसक होनेमेंसे किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है.

मुखपृष्ठपर उल्लिखित पू. पा. महाराजश्रीके नामसे उनका ग्रन्थकर्ता होना ध्वनित हो रहा है. उसे मानकर चलनेपर पू. पा. महाराजश्रीके द्वारा नडियादके केसमें दी गई जुबानी तथा हालमें श्रीहरिरायजी(जामनगर)को दिये अभिनन्दनपत्रके कारण खडे होते नैतिक उत्तरदायित्वसे छटकनेकी कूटनीति प्रकट होती है. इसी तरह प्रकाशकीय पृष्ठोल्लिखित 'श्रीबालकृष्णलालजी - श्रीवल्लभराय' नामोंके साथ ग्रन्थकर्तृत्वको जोडनेपर इन दोनों महानुभावोंद्वारा ''पुष्टिने शीतल छांयडे'' ग्रन्थोंमें दिये उत्तरोंसे तथा संयुक्त घोषणापत्रके समर्थनार्थ गो. श्रीबालकृष्णलालजी द्वारा मुझे लिखे गये पत्रोंके नैतिक उत्तरदायित्वसे छटक जानेकी कूटनीति खेली जा रही है ऐसा लगता है!

बहुत सम्भव है कि हाल ही में जैसे नाशिकमें हमारे चचेरे भाई श्रीव्रजाधीशजीको उकसा कर उनसे स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके विपरीत यद्वा-तद्वा अनर्गल वक्तव्य दिलवा दिये गये और यहां पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पार्ले-मुंबई में, जब इस तथ्यकी ओर ध्यान आकृष्ट किया गया, तब भरी सभामें यह कह कर श्रीवल्लभरायजी कतरा गये कि नाशिकमें वे न तो अध्यक्ष थे, न मुख्य वक्ता; और न प्रेरक ही! अर्थात् ''वृद्धास्ते न विचारणीयविषया:'' न्यायानुसार श्रीवल्लभरायजी तो केवल अहोवाददाता ही थे! अतएव कहा गया है : ''जनो विद्वानेक: सकलमभिसन्धाय कपटै: तटस्थ: स्वानर्थान् घटयति च मौनं च भजते.''

कर्तृगुप्त-प्रहेलिकायें ''गोरीनखरसादृश्यश्रद्धया शशिनं दधौ इहैव गोप्यते कर्ता वर्षेणापि न लभ्यते'' तो काव्यकुशलता प्रकट करनेको लिखी जाती रही हैं परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ ही कर्तृगुप्त लिखनेमें विमर्शकुशलताकी जगह भावकुटिलता ही अधिक प्रकट होती है.

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पार्ले-मुंबई में भी यही कुटिल नाटक खेला गया था. जान करके चर्चासभाके सारे नियमोंको ताकपर रख उन्हीं विषयोंको छेडा गया कि जिनका जवाब, पू. पा. महाराजश्री – जो सभास्थलके बाहर स्वेच्छया कारमें ही बिराजे रहते थे – की मौजूदगीमें देने या न देने दोनों ही स्थितियोंका भरपूर लाभ उठाया जा सके, बडोंकी अवहेलनाका बहाना बना कर! अन्यथा शान्त चित्तसे समझनेकी बात थी कि श्रीबालकृष्णलालजी, श्रीकल्याणरायजी तथा श्रीवल्लभरायजी को चर्चासभामें बेरोकटोक पधारकर अनर्गल बातें बोलनेसे भी रोका नहीं गया. स्वयं श्रीवल्लभरायजीको पू. पा. महाराजश्रीका लिखित वक्तव्य पढनेके व्याजसे संवादस्थापकमण्डलके नवयुवक सदस्योंके प्रति दिल खोल कर विषवमन भी करने दिया ही गया था. तो पू. पा. महाराजश्रीके सभा पधारनेसे और अधिक क्या होना जाना था? जबकि संवादस्थापकमण्डलके सदस्योंको तो पता भी नहीं था कि पू. पा. महाराजश्री कब पधारना चाहते थे और क्यों नहीं पधारे! वास्तवमें तो स्वयं श्रीकल्याणरायजीके कहनेपर पू. पा. महाराजश्री नहीं पधारे. उन्हें बोलनेके अवसरसे वंचित रखे जानेका रोषवेदनापूर्ण वक्तव्य, क्या कारण था कि स्वयं श्रीकल्याणरायजीको पढनेको नहीं दिया गया? और क्यों श्रीवल्लभरायजीको ही दिया गया? सो भी श्रीकल्याणरायजीसे कारण पूछे बिना ही!

मैंने जब श्रीकल्याणरायजीसे अनर्गल विधान करते श्रीवल्लभरायजीको रोकनेको कहा तो उन्होंने मुझे कहा कि उन्हें जो कुछ कहना है, कह लेने दो, बादमें खुलासा कर दूंगा. क्या खूब यह साधी हुई मिलिभगत थी! सो श्रीकल्याणरायजीने बादमें खुलासा दे दिया कि समयाभाववश श्रीकल्याणरायजी पू. पा. महाराजश्रीको

केवल न आनेकी ही सूचना दे पाये थे और कोई खुलासा दे नहीं पाये और श्रीवल्लभरायजी क्योंकि इस तथ्यसे वाकिफ नहीं थे सो... सो बस हो गया न सारा खुलासा!

प्रतीत होता है वही चक्कर यहां भी चलाया जाना है कि पू. पा. महाराजश्रीके नामपर ग्रन्थ छपा दो ताकि लोग इसकी महत्ता पू. पा. महाराजश्रीके नामानुसार स्वीकार लें! भविष्यमें जब भी बात बदलनी हो तो "आज्ञा गुरूणामविचारणीया" भी कहा जा सकेगा. अन्यथा वृद्धजनोंकी अवहेलनाका बावेला तो चर्चासभाकी तरह मचाया ही जा सकेगा!

परन्तु भगवत्कृपासे पार्लेकी चर्चासभामें भी अधिकांश जनता इस नाटकको बराबर भांप गई सो मनोवांछित सफलता नहीं मिली. अतएव अनिर्णीत चर्चासभामें सिद्धान्तपक्ष स्थापित करनेका निर्णायक प्रमाणपत्र श्रीहरिरायजीको प्रदान करवाकर प्रतिशोध लिया गया. उसमें भी "तवार्धं च ममार्धं च" की एक कूटनीति और वापरी गई थी. श्रीहरिरायजीके अनुज काशीकी गादीपर गोद गये हैं - जाहिर है कि षष्ठपीठकी दावेदार काशीकी भी गादी है. सो पू.पा.तिलकायत महाराजश्री तथा श्रीहरिरायजी दोनोंको, अभिनन्दनपत्रपर षष्ठपीठाधीश्वरकी हैसियतमें, सहहस्ताक्षरकर्ताके रूपमें फंसा लिया गया! प्रकाशित ग्रन्थके १२६वें पृष्ठपर स्वीकारा गया है - "...'निरूपधि' यह विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है फलकी आकांक्षा एवं कपटता से रहित. श्रीहरिरायजीने भी कहा है 'तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये' तदनुसार निरपेक्षरूपसे सेवा कर्तव्य है यह निश्चित होता है."

यह सद्योग्रहीत पक्ष भविष्यमें कितने समय तक टिकेगा यह भी देखनेका विषय है.

क्योंकि नडियाद केसकी जुबानी में पू.पा.महाराजश्रीने यह स्वीकारा था कि कांकरोली अर्थात् तीसरे घरके उपगृहमें वे श्रीगिरधरजीके वंशज हैं. ऐसी स्थितिमें ठाकुरजी श्रीबालकृष्णलालजीको षष्ठनिधि मान भी लिया जाये तो स्वप्रतिश्रुत तृतीय गृहान्तर्गत उप (३/२) गृहमें श्रीगिरधरजीकी वंशजताके पक्षको छोड कर षष्ठनिधिके दावेको अपनी षष्ठपीठाधीशतामें पर्यवसित करना और उसकी प्रसिद्धिके लिये मिथ्या मनोरथ-स्तोत्रादिका आयोजन क्या 'प्रतिष्ठाप्रसिद्धये' षष्ठनिधिसेवन नहीं है? भूलना नहीं चाहिये कि प्रस्तुत ग्रन्थके १६४वें पृष्ठपर यह स्वीकारा गया है कि अपने लाभ एवं अपनी पूजा के लिए की जानेवाली भगवत्सेवा ही धर्मशास्त्रत: निषिद्ध प्रकारकी देवलकत्वापादिका भगवत्सेवा है. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि षष्ठनिधिकी सेवाका आधिदैविक लाभ लेनेके लिए सुरतकी हवेलीको 'षष्ठपीठ' नहीं कहा जा रहा है, परन्तु अपनी षष्ठपीठाधीशत्वेन पूजाकी अभिवृद्धिके लिए अपने सेव्यस्वरूपको 'षष्ठनिधि' कहा जा रहा है. अन्यथा मिथ्या मनोरथों-स्तोत्रोंद्वारा "इतिश्रीयदुनाथगृहोद्भव" विशेषणोंको प्रचारित करनेकी क्या आवश्यकता? नाशिकके आयोजनमें चि.श्रीवागीशकुमार भी आये थे उनके नामोंकी घोषणाके साथ 'तृतीयपीठ'का उल्लेख तो नहीं हो रहा था. पू.पा.महाराजश्रीकी विद्यमानतामें जबकि श्रीवल्लभरायजीके नामके साथ उनके षष्ठपीठके साथ जुडे होनेका उल्लेख निरन्तर होता रहा (मेरे पास इसकी कैसेट मोजूद है)! इससे सिद्ध होता हैं षष्ठनिधिके लिए षष्ठपीठाधीशता नहीं है बल्कि षष्ठपीठाधीशत्वेन पूजाभिवृद्ध्यर्थ स्वसेव्यस्वरूपकी षष्ठनिधिता घोषित की जा रही है.

जैसे पूजाभिवृद्ध्यर्थ भगवत्सेवनका यह नग्नताण्डव है, वैसे ही आजसे करीब सित्तर-अस्सी वर्षपूर्व आर्थिकलाभार्थ स्वसेव्यके षष्ठनिधित्वका झघडा जानबूझ कर खडा किया गया था. वह प्रमाण भी द्रष्टव्य है :

"सात स्वरूप निमित्ते काढेली सेवा श्रीठाकुरजीनी के गुसांईजी महाराज बालकोनी?

लखतर दरबार श्रीकरणसिंहजी ठाकोर साहेब एक परम वैष्णव छे... राजकोटमां एकठा महाराजश्रीना दर्शनार्थे गयेला... जेमां तिलकायितश्री बिराज्या हता. आ मेलावडामां लखतरना दरबार श्रीकरणसींगजी ठाकोर साहेबे पण हाजरी आपी हती. आ प्रसंगनो लाभ लई पोताना मनमां घणा वखतथी घोळातो प्रश्न पुष्टिमार्गना श्रेष्ठमां श्रेष्ठ गादीनशीन तिलकायित महाराजने नम्रताथी अने बिनयथी विनंतीरूपे रजु कर्यो... 'सात स्वरूपनी सेवा अने भेट श्रीठाकुरजीनी के श्रीगुसांईजीना सात बालकोनी, वैष्णवोए समजवी?' हसता मुखारविंदथी अने मनप्रसन्नथी उत्तर तिलकायितश्रीए आप्यो के 'ते सेवा अने भेट सात स्वरूपो एटले श्रीगुसांईजीना सात लालजीओना घरनी गादीए बिराजता टिकेत श्रीगोस्वामी बालकोने अर्पण करवामा आवे छे तेम समजवुं. ए सेवा अने भेट श्रीठाकुरजीने अर्पण थयेली छे एम मानवुं नहीं.' (श्रीगट्टुलालाजी संस्था द्वारा प्रकाशित "पुष्टिमार्गना वैष्णवोने खास, तेमज धर्मविलासीओने सामान्यपणे जाणवा अने मनन करवा जेवा धर्मना विषयोनुं टीप्पण अथवा संग्रहस्थान" पृष्ठ ५२-५३ ले. प्रका. काशीदास नारणदास दलाल. प्रका. वर्ष : संवत् १९७४).

"आवी रीते हवेली अने तेमां बिराजता स्वरूपो अने तेने लागती स्थावर-जंगम

मिलकतो महाराजोनी खानगी मिलकत होवाथी श्रीराजकोट मुकामे तिलकायितश्रीए आपेलो जवाब रास्त गणाय अने ते सेवा अने भेट स्वरूप-श्रीठाकुरजी-नी मानो के जेमने माथे ते बिराजता होय तेमनी मानो पण छेवटे सरवाळो एकसरीखो छे एम कही शकाय. परन्तु सुरतनी गादी साथे शेरगढवाळी गादीनी श्रीबालकृष्णजीने लीधे तकरार छे ते तरफ जोतां ए सरवाळो कामनो नथी. एमां तो गंभीर सवाल ए छे के जो ते ठाकुरजीना निमित्ते कढायेली होय तो ते ठाकुरजीनी कहेवाय अने ज्यां ते स्वरूप बिराजतुं होय त्यां वैष्णवोए मोकली देवी जोईए. पण जो सेवाभेट छठ्ठा बालकनी, ऊपर जणावेला तिलकायितश्री गोवर्धनलालजीना अभिप्राय प्रमाणे, थती होय तो ते शेरगढवाळा महाराजने छठ्ठा घरना तिलकायित तरीके तेमने मळवी जोईए...

सुरतवाला तरफथी घणी दलीलोमांनी एक एवी दलील होय एम जणाय छे के श्रीहरिरायजी महाराजे एक नमन श्लोकमां आ स्वरूपने छठ्ठा घरना श्रीजदुनाथजीना कही नमन कर्युं छे... उक्त श्रीहरिरायजीना वहुजी महाराजे धोळ बनाव्या छे तेनुं एक लघुपुस्तक हमोने खास आ तकरार माटे वांचवासारु आपवामां आव्युं छे. तेमांना एक धोळमां लख्युं छे — 'जोडी हाथने कहे छे जदुनाथजीरे लोल, मन वस्या छे हमारे तो श्रीनाथजी रे लोल, कृपानुग्रहथी श्री आप पधरावीआ रे लोल, श्रीबालकृष्णजी हमारे मन भावीआ रे लोल, त्यारे प्रसन्न थईने तात मन घणुं रे लोल, स्वरूप पधराव्युं श्रीकल्याणरायजी तणुं रे लोल...' आ धोळ सुरतवाला महाराजश्रीना घरमांथी गुजरातीमां प्रकट करवामा आव्युं छे... सुरतनी हवेलीमां सेवाविधिनुं एक हस्तलिखित पुस्तक छे तेमां चैत्र सुद ६ ने दिवसे आ छठ्ठा लाल श्रीजदुनाथजीना उत्सवनो जणाव्यो छे. ते दिवसे केसरी वस्त्रो एवे प्रसंगे धराववा जोईए तेने बदले श्याम (काळी) चुंदडी धराववी एवुं लख्युं छे. आ शुं सूचवे छे?... शेरगढवाला महाराजश्री गिरधरलालजी ए स्वरूप ऊपर कोई प्रकारनो हक के दावो धरावता नथी एम एमनुं खुल्ला शब्दोमां हमो प्रत्ये बोलवुं थयुं छे... एमनी तकरार एटली ज छे के तेओश्री जणावे छे के सात स्वरूपनी सेवा अने भेट वैष्णवो तरफथी मले छे तेमां छठ्ठा घरने मलती सेवा भेट लेवानो, तिलकायित तरीके हक तेमनो ज छे अने सुरतवाला महाराजश्रीने ते लेवानो हक नथी... सुरतमां हाल बिराजता महाराजश्री गो. श्रीव्रजरत्नलालजीना फ़ई... श्रीजसोदा बेटीजीए 'सात स्वरूपोनी कहाडी भेट तथा मनोरथ भेट नी व्यवस्था बाबत सप्रमाण विवेचन' ए नामनुं

लघुपुस्तक संवत १९६५ मां छपावेलुं छे'' (वहीं पृष्ठ ५९-६३).

उस लघुपुस्तकके आद्यन्त पृष्ठोंकी प्रतिलिपि :

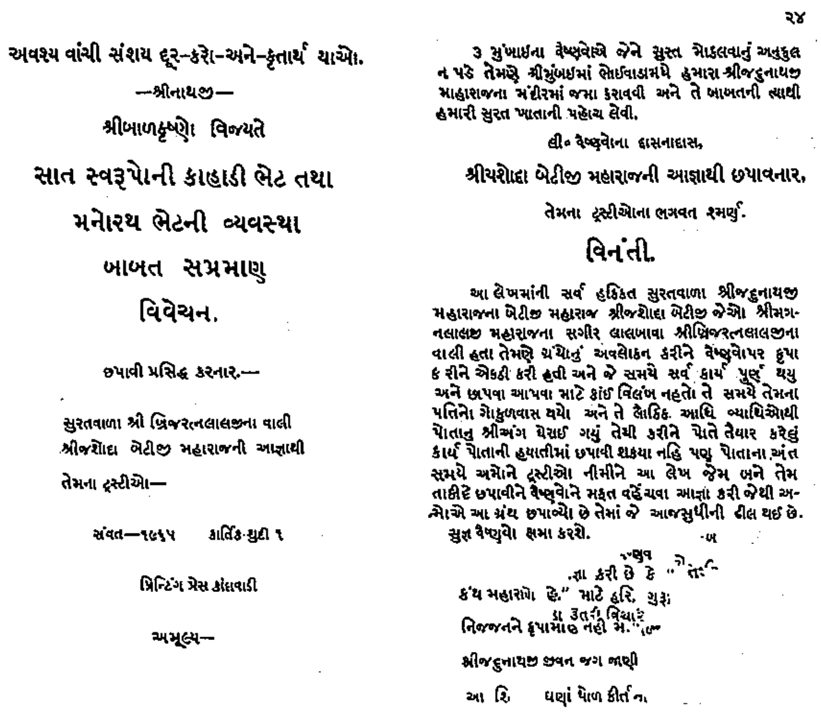

અવશ્ય વાંચી સંશય દૂર-કરો-અને-કૃતાર્થ થાઓ.

—શ્રીનાથજી—

શ્રીબાળકૃષ્ણો વિજયતે

સાત સ્વરૂપોની કાહાડી ભેટ તથા
મનોરથ ભેટની વ્યવસ્થા
બાબત સપ્રમાણ
વિવેચન.

છપાવી પ્રસિદ્ધ કરનાર.—

સુરતવાળા શ્રી બ્રિજરત્નલાલજીના વાલી
શ્રીજશોદા બેટીજી મહારાજની આજ્ઞાથી
તેમના ટ્રસ્ટીઓ—

સંવત—૧૯૬૫ કાર્તિક-શુદી ૧

પ્રિન્ટિંગ પ્રેસ કાંસવાડી

અમૂલ્ય—

૨૪

૩ મુંબાઇના વૈષ્ણવોએ જેને સુરત મોકલવાનું અનુકુલ ન પડે તેમણે શ્રીમુંબઇમાં ભોઈવાડામધે હમારા શ્રીજદુનાથજી માહારાજના મંદીરમાં જમા કરાવવી અને તે બાબતની ત્યાંથી હમારી સુરત ખાતાની પહોચ લેવી.

લી॰ વૈષ્ણવોના દાસનાદાસ,

શ્રીયશોદા બેટીજી મહારાજની આજ્ઞાથી છપાવનાર,

તેમના ટ્રસ્ટીઓના ભગવત સ્મર્ણ.

વિનંતી.

આ લેખમાંની સર્વ હકિકત સુરતવાળા શ્રીજદુનાથજી મહારાજના બેટીજી મહારાજ શ્રીજશોદા બેટીજી જેઓ શ્રીમગનલાલજી મહારાજના સગીર લાલબાવા શ્રીબ્રિજરત્નલાલજીના વાલી હતા તેમણે ગ્રંથોનું અવલોકન કરીને વૈષ્ણવોપર કૃપા કરીને એકઠી કરી હતી અને જે સમયે સર્વ કાર્ય પુર્ણ થયુ અને છાપવા આપવા માટે કાંઈ વિલંબ નહતો તે સમયે તેમના પતિનો ગોકુળવાસ થયો અને તે લોકિક આધિ વ્યાધિઓથી પોતાનુ શ્રીઅંગ ઘેરાઈ ગયું તેથી કરીને પોતે તૈયાર કરેલું કાર્ય પોતાની હયાતીમાં છપાવી શકયા નહિ પણ પોતાના અંત સમયે અમોને ટ્રસ્ટીઓ નીમીને આ લેખ જેમ બને તેમ તાકીદે છપાવીને વૈષ્ણવોને મફત વહેંચવા આજ્ઞા કરી જેથી અમોએ આ ગ્રંથ છપાવ્યો છે તેમાં જે આજસુધીની ઢીલ થઈ છે. સુજ્ઞ વૈષ્ણવો ક્ષમા કરશે.

...જ્ઞા કરી છે કે "...
કંથ મહારાજે કે." માટે હરિ, ગુરૂ
નિજજનને કૃપામાં નહી મ."
શ્રીજદુનાથજી જીવન જગ જાણી
આ રિ ઘણાં ધોળ કીર્તન.

आलोच्य ग्रन्थके पूर्वोद्धृत आमुखमें लिखा गया है – ''वर्तमान शताब्दीमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परा उच्छिन्नप्राय हो जानेसे...''. इस शब्दावलीद्वारा पाठकके हृदयमें ऐसा आभास प्रकट करनेका प्रयास किया गया है कि आलोच्य ग्रन्थके विधान या निष्कर्ष साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् अध्ययनाध्यापनकी परम्परामें दीक्षित व्यक्तिद्वारा किये गये हैं. अत: हमें थोडा सा यह भी देखना है कि अन्य परम्पराओंको थोडी देरके लिए भूल कर भी केवल सूरतके घरसे भूतकालमें क्या-क्या विधान-प्रशंसा-निष्कर्ष प्रकट हुए थे! यदि उन सभीसे विरुद्ध विधान तथा निष्कर्ष इस ग्रन्थमें प्रकट हुए हों तो सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थमें भी जैसे ग्रन्थगत सिद्धान्त परम्परया

अधीत या अध्यापित थे उनसे नितान्त विरुद्ध ही है!

नडियाद के केसमें पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री द्वारा दी गई साक्षी दि. २-४ नवंबर ४६ (का हिन्दी अनुवाद)

पू. पा. म. श्री : निवेदनमें स्वयंके स्वत्व की निवृत्ति नहीं होती होनेसे स्वयंके उपयोगमें उन वस्तुओंको लिया जा सकता है. निवेदनमें स्वत्वकी निवृत्ति होती नहीं यह बात श्रीकल्याणरायजी स्पष्ट रीतिसे समझाते हैं. अब जो प्रभुको अर्पित की गई वस्तु दान बन जाती होती तो हमें उन्हें उपभोगमें लानेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे नहीं सकते (पृष्ठ ५) सम्प्रदायके अनुसार किये गये समर्पणमें अर्पण की गई वस्तु अर्पणकर्ताके पास रहती हैं.

वकील : आपके कथनानुसार वैष्णवद्वारा श्रीठाकुरजीको जो मिल्कत अर्पण की जाती है उसपरसे उस (वैष्णव) की मालिकी हट नहीं जाती. क्या यह सच है?

पू. पा. म. श्री : वैष्णवके घरमें बिराजते ठाकुरजीके बारेमें पूछा जा रहा है कि गुरुके घर बिराजते श्रीठाकुरजीको उद्देश्य करके यह प्रश्न है?

वकील : यह प्रश्न श्रीठाकुरजी वैष्णवके घर बिराजते हों या अन्य कोई वैष्णवके घर बिराजते हों, श्रीगोस्वामी बालकके यहां बिराजते हों, पुष्टिमार्गीय मंदिरोंमें बिराजते हों, अर्थात् जहांजहां पुष्टिमार्गीय स्वरूप बिराजते हों उनके बारेमें है.

पू. पा. म. श्री : गोस्वामी बालकोंके घरमें बिराजते स्वरूपोंको वैष्णव अर्पण कर ही नहीं सकते. परन्तु गुरुओंको ही भेट दी जाती है. अतः वहां देनेवालेकी मालिकी रह नहीं जाती... और वहां 'अर्पण' नहीं परन्तु 'भेट' वापरा जाता है. खुदके घर (अर्थात् एक वैष्णवके घर) कोई स्वरूप बिराजता हो तो उस स्वरूपको अपने उपयोगमें लानेसे पहले अर्पणकर्ताका स्वत्व रहता है... 'भेट' और 'अर्पण' ये दोनों पृथक् हैं. भेट करनेपर देनेवालेका स्वत्व निवृत्त होता है और लेनेवालेका स्वत्व पैदा होता है. और समर्पण करनेपर देनेवालेका स्वत्व कायम रहता है. अतः दोनों एक अर्थमें कही दो बातें नहीं...

वकील : साम्प्रदायिक किसी भी मन्दिर कि जिसमें गो. बा. हों या न हों ऐसे किसी भी मंदिरमें श्रीठाकुरजीकी सेवाके लिए वैष्णव भेट धर सकते हैं या नहीं अथवा जिन मंदिरोंमें गो. बा. हों उन्हींमे नहीं दे सकते?

पू. पा. म. श्री : कहीं भी नहीं

(पृष्ठ : ४,८, तथा १८).

सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श तथा से. दे. वि. सारसंग्रह क्रोडपत्रसहित

फलाकांक्षा एवं कापट्य को छोडकर अपने समस्त द्रव्यका प्रभुके लिए विनियोग करना वित्तजा सेवाका स्वरूप है. तब जिस प्रकार भगवत्सेवामें विनियुक्त करने हेतु पतिद्वारा प्रदत्त द्रव्यसे सामग्री लाकर प्रभुको अंगीकार करनेमें पत्नीकी तनुजा सेवामें बाधा नहीं तथा पतिको भी उस द्रव्यको देनेमें उसकी वित्तजा सेवामें बाधा नहीं, उसी प्रकार एक वैष्णवद्वारा भगवत्सेवामें विनियुक्त करनेके हेतु दूसरे वैष्णवको सामग्री दिये जानेपर प्रभुद्वारा उस सामग्रीका अंगीकार होनेमें बाधा नहीं होनी चाहिये. तब किशोरीबाईकी वार्तामें यह उल्लेख कैसे आया? "...यामें यह जताये जो वैष्णवको औरकी सत्ताकी सामग्री अपने श्रीठाकुरजीको आरोगावनी नाहीं. ओर कछू वैष्णवपेंते लेके श्रीठाकुरजीकों विनियोग न करावनो, सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करे."

उत्तर : "तत्सिद्धचै तनुवित्तजा" की व्याख्यामें समागत पंक्तियां मानसीकी साधिका तनुजा, वित्तजा कौन है व कौन मानसीकी साधिका नहीं है यह बतलाने आयी हैं. किशोरीबाईकी वार्तामें समागत पंक्तियां भगवानके लिये दूसरे द्वारा प्रदत्त सामग्रीको अंगीकार करानेके निषेधमें हैं, अतः दोनोंका प्रतिपाद्य विषय भिन्न है.... यह नियम सार्वत्रिक है अथवा संकुचित? सार्वत्रिक यदि हो तो इसी प्रकार भगवत्सेवामें विनियुक्त करने हेतु गुरुको शिष्य द्रव्य नहीं दे सकते हैं तथा न तो गुरु शिष्यको द्रव्य दे सकते. पतिद्वारा प्रदत्त सामग्रीको पत्नी प्रभुको अंगीकार न करावे. पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिका प्रभुसेवामें विनियोग न करे इत्यादि आपत्तियां आती हैं... प्रकृतमें किशोरीबाईको जिस वैष्णवने ठाकुरजीके लिए सामग्री दी है वह किशोरीबाईके परिवारका है या शिष्य है इसमें कोई प्रमाण नहीं. (पृष्ठ १०-११).

[यहां तुलनीय है कि परम्परया अधीत ग्रन्थाभिप्राय में पू.पा.महाराजश्रीने समर्पण और भेटका पृथक्करण निरूपित किया था. एक वैष्णवद्वारा अपने गुरुको जब भेट की जाती है तब वहां शिष्यके स्वत्वकी निवृत्ति स्वीकारी थी. गुरुके ठाकुरजीको वैष्णव अर्पण नहीं कर सकते थे यह भी स्वीकारा था. अर्पण करनेपर स्वत्वकी निवृत्ति नहीं होती यह भी स्वीकारा था; जैसे पतिपत्नी या मातापिता-सन्तति के अविभक्त स्वत्ववाली सम्पत्ति अर्पणार्थ देनेपर स्वत्वनिवृत्ति नहीं होती. ये सारे पूर्ववर्णित सिद्धान्त परम्पराधीत थे अथवा अधुनाप्रकाशित सिद्धान्त? यदि पूर्ववर्णित तो अधुनाप्रकाशित अपरम्पराधीत अपसिद्धान्त हैं. और यदि अधुनावर्णित सिद्धान्त तो यह कौन सी विच्छिन्न परम्परा है जो पुनरुज्जीवित हुई है! –इसका खुलासा देना पड़ेगा.

यह ठीक है कि पहले कही सारी बातोंको इससे अविरोधसे लेने की शर्त रखी गई है. परन्तु पूर्वस्वीकृति या इस ग्रन्थके बीच किसी एकको अज्ञान या स्वार्थ से प्रेरित स्वीकारना होगा. इसमें सच क्या यह तो ग्रन्थकार ही बता पायेंगे!

(गो. श्याम)]

ता. २-१२-८० के दिन श्रीव्रजरत्नदास परीखकृत पुस्तकार्थ प्रदत्त आशीर्वचनमें पू. पा. महाराजश्री आज्ञा करते हैं - "आ पुस्तक अमे साद्योपान्त वांची गया छीए अने अमने लाग्युं छे के पुस्तक सामान्य शिक्षित वैष्णवने पण लीलानुभावन करवा माटे अति उपयोगी थई पडशे. पुस्तकमां ज्यां आवश्यक सुधारा करवा जणाया ते अमे कराव्या छे. आवुं सुंदर पुस्तक प्रकट थवाथी अमने घणो आनन्द थाय छे."

साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके यथावत् परम्परयाध्ययनप्राप्त बोधके अनुसार सेवाद्वैविध्य है या सेवात्रैविध्य एतद्विषयक ऊहापोहके सन्दर्भमें यहां एक मजेदार वदतोव्याघात उभर कर आता है :

श्रीव्रजरत्नदासभाई परीखकृत पुस्तक, जो. पू. पा. महाराजश्रीद्वारा अभिनन्दित है

...पोतानुं घर व्रज-गोकुल छे अने घरमां ज्यां श्रीठाकोरजी बिराजे छे त्यां होंशे-होंशे पहोंची जई, श्रीयशोदामैयानी आज्ञा लई, श्रीबालकृष्णलालने लाड लडावीए छीए तेवी भावनाथी चित्तने सेवामा जोडवुं. अथवा नंदरायजीना आपणे पाडोशी छीए, श्रीयशोदामैयाए श्रीबालकृष्णने कृपा करीने थोडो समय खेलाववा आप्या छे, तेमने आपणा घेर पधरावी लाव्या छीए —तेवा व्रजभक्तना भावथी चित्तने सेवामां जोडवुं... श्रीमहाप्रभुजी सेवाना मुख्य बे प्रकार बतावे छे (१) साधनरूपा सेवा (२) फलरूपा सेवा. साधनरूपा सेवा शरीर अने द्रव्यना विनियोगद्वारा थाय छे. ते जातेज गोपीजननी भावनाथी प्रेमपूर्वक-दीनताथी करवी जोईए. स्वमार्गनी रीते करवी. कल्पित प्रकारे न करवी... आम शरीर अने द्रव्य द्वारा सेवा करतांकरतां भगवात्कृपाथी ज्यारे मन एकाग्र थई तल्लीन थई जाय त्यारे मानसी सेवा जे फलस्वरूप छे ते आपोआप सिद्ध थाय छे. (पृ. ११-१२).

सेवा-देवद्रव्यादि विमर्श तथा से. दे. विमर्शसारसंग्रह कोडपत्रसहित

ऐसी स्थितिमें फलरूपा और साधनरूपा इस प्रकारसे गणना करनेपर सेवा दो प्रकारकी होती है. मानसी, तनुजा और वित्तजा इस प्रकार सेवाकी गणना करनेपर सेवा तीन प्रकारकी होती है. "उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति" ऐसा श्रीप्रभुचरणोंने लिखा है... इस वाक्यमें द्विवचनका प्रयोग होनेसे तनुजा और वित्तजा इस प्रकारसे साधनरूपा दो प्रकारकी निश्चित होती है. अतः मानसी, तनुजा और वित्तजा इस प्रकार तीन प्रकारकी सेवा मनःकल्पित नहीं किन्तु प्रामाणिक है (पृ. ८९).

वित्तको वेतनके रूपमें देकर दूसरे पुरुषके द्वारा करायी गयी एक. वित्तको वेतनके रूपमें ग्रहण कर की हुई सेवा दूसरी. "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न" —ऐसी दोनों सेवायें मानसीकी साधिका नहीं. सारांश: क्रीत तनुजा और विक्रीत तनुजा मानसीके साधन नहीं यह कहना अभिप्रेत है. अतएव सेवाका मूल्य देकर सेवा कराना सर्वथा निषिद्ध नहीं. सेवाका मूल्य देकर करायी गयी सेवा द्रव्यदाताकी वित्तजा सेवाके अन्तर्गत होगी अतः वहांपर द्रव्यदाताको तनुजा सेवा करना आवश्यक है. (पृ. ५-६).

इस तरह हम देख सकते हैं कि सन '८०तक सेवाके जो दो ही प्रकार थे वे कहनेको वैसे यहां तीन हुवे हैं परन्तु शान्त चित्तसे विचारनेपर केवल तीन नहीं रह जाते हैं. यह कैसी वञ्चना स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके साथ की जा रही है!यथा —

(१) केवल स्वतनु केवल स्ववित्त द्वारा सम्पन्न मानसीसाधिका सेवा (उदाहरणतया अधिकांश निष्ठाशील वैष्णवोंद्वारा अनुष्ठित).

(२) स्वतनुवित्तसहकृत परतनुद्वारा सम्पन्न क्रीता मानसीअबाधिका वित्तजा सेवा (उदा. स्वसिद्धान्त-निष्ठाबोधरहित देवलकमोहित प.भ.धनिकोंद्वारा अनुष्ठित).

(३) स्वतनुवित्तसहकृत परवित्तद्वारा सम्पन्न विक्रीता मानसीअबाधिका तनुजा सेवा (उदा. कतिपय गो.महाराजों तथा अबोध अकिंचन भावुक वैष्णवद्वारा भी अनुष्ठित).

(४) स्वतनुवित्तासहकृत परवित्त-परतनुद्वारा क्रीता-विक्रीता मानसीअसाधिका नामैककरणिका सेवा (उदा. गो.बालकोंके नाममात्र स्वामित्ववाली — कलोल, भरुच जैसी सूरतकी — हवेलिओमें अनुष्ठित).

(५) परवित्तद्वारा सम्पन्न विक्रीता मानसीअसाधिका होनेपर भी अनिषिद्धा तनुजा सेवा (उदा. 'पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि'त्वसाधिका!).

(६) परतनुद्वारा सम्पन्न क्रीता मानसीअसाधिका होनेपर भी अनिषिद्धा वित्तजा सेवा (उदा. देवलकव्यामोहित अधिकांश वैष्णव जनता जिसे आज परमधर्म समझती है).

इस तरह तीनकी जगह छह प्रकार की अनिषिद्ध सेवायें अब अकस्मात् परम्पराधीत-ग्रन्थ-निष्कर्षतया 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण' हो रही हैं!

वैसे प्रातःस्मरणीय नि.ली.श्रीगोविन्दरायजी, जो स्वमार्गीय सिद्धान्तोंको निष्ठापूर्वक जीनेके एक मूर्तिमान आदर्श थे, उनके वचनामृत इस सन्दर्भमें अतीव मननीय हैं. वे आज्ञा करते हैं - "पूर्ण पुरुषोत्तमका ही भजन यह (स्वतः पुरुषार्थरूप) भक्ति है. इस लोककी या परलोककी किसी भी फलाशाके बिना प्रभुमें अपने चित्तको जोड़ देना, तत्प्रवण... श्रुतिमें किया गया है. ऐसी सभी श्रुतियोंके आशयको लेकर श्रीमहाप्रभुने सिद्धान्तमुक्तावलीमें 'कृष्णसेवासदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा' इत्यादि का समावेश किया है. (श्रीगोविन्दप्रभुकृत २४ वचनामृतान्तर्गत ८वे वचनामृतका हिन्दी अनुवाद)

कहां तो फलांकाक्षारहितताके सन्दर्भमें तनुवित्तजा सेवाको निहारनेकी उनकी भक्तिमयी दृष्टि और कहां उनकेद्वारा सुपाठित होनेपर भी उनके ही आत्मजोंकी 'तनुवित्तजा' के दिव्यैक्यको भंग करके स्वसेव्य प्रभुकी सेवार्थ परवित्त ऐंठनेकी वकालतकी वृत्ति! अस्तु भगवदिच्छा!

कुल मिला कर बात यही है कि अधुनाप्रकटित ग्रन्थोक्त बातें यदि परम्पराधीत सिद्धान्त होता तो श्री आर.के.भट्टकी 'श्रीमद् वल्लभाचार्यके दार्शनिक आचार की परम्परा' पुस्तकका पुनःप्रकाशन क्यों किया गया? वह भी श्रीगोविन्दप्रभु ट्रस्ट (सुरत) द्वारा 'उज्ज्वलमणि' तया प्रातःस्मरणीय नि.ली.श्रीगोविन्दरायजी द्वारा प्रशस्त होनेके उल्लेखके साथ क्यों यह पुस्तक प्रकाशित की गई? भट्टजीके इस पुस्तकको 'अत्युत्तम' कहकर बिरदानेवाले सुरतके घरके षष्ठपीठके दावेमें मौन रहनेवाले पू.पा.तिलकायतश्री को क्या खुश करने के लिए? क्या श्रीबालकृष्णजी-श्रीकल्याणरायजी-श्रीवल्लभरायजी अपने पितृचरणको परम्परया अधीत नहीं मानते? और यदि यह विरुद्ध न हो तो द्रष्टव्य है कि इस ग्रन्थके पृष्ठ ११८-११९ पर यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि सेवार्थ धन लेना (तनुजा सेवा) या देना (वित्तजा सेवा) दोनों ही वर्जित प्रकारकी सेवा है. गुरुके सेव्य स्वरूपको नहीं प्रत्युत गुरुको ही जो भेट धरनी हो सौ वैष्णवोंको धरनी चाहिये. सार्वजनिक देवालयके प्रकारसे अन्योंको दर्शन कराना इस ग्रन्थमें

सिद्धान्तविरुद्ध बात मानी गई है. (द्रष्टव्य: पृष्ठ ७४-७५, ११२-११३ तथा ११८-११९).

अब परन्तु लगता है कि स्वजनक-श्रीगोविन्दप्रभुप्रशस्त 'उज्ज्वलमणि' उनके आत्मजोंकी धारणाके अनुसार धूलिधूसरित या स्वार्थविरुद्धकर्दमलिप्त हो गई है. अन्यथा यह नयी परम्परा अकस्मात् कहांसे प्रकट हो गई? अन्यथा उनके तीनों आत्मज अपने उज्ज्वलमणिप्रशंसक पितृचरणकी परम्परासे विरुद्ध परम्पराके साथ अपना नाम कैसे जोड पाते!

अहमदाबादवाले प्रात:स्मरणीय नि.ली.श्रीरणछोडलालजीके वचनामृतोंका तो दो बार सुरतसे प्रकाशन हुआ, बावजूद इसके कि ४८४ तथा ४८७ वें वचनामृतोंमें स्पष्ट उल्लेख किया है कि "... अपने यहां भी सन्मुख भेट जो होती है वह देवद्रव्य है और उसे सामग्रीके काममें नहीं लाया जाता. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजीके घरमें तो अभी भी यह नियम पाला जा रहा है... हम श्रीनाथजीके सन्मुख जो भेट धरते हैं वह श्रीमहाप्रभुजीके पादुकाजीको धरते हैं तो भी उसे अलंकारादिमें वापरा जाता है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुख भेट धरनेमें बहोत अनाचार होता है (४८४). श्रीठाकुरजीके निमित्त कुछ भी मांगना नहीं चाहिये या कुछ भी देना नहीं चाहिये. इस रीतिसे प्राप्त द्रव्य देवद्रव्य बनता है. श्रीठाकुरजी उसे अंगीकार नहीं करते अत: वह सामग्री महाप्रसाद बनती नहीं और लेनेवालेकी बुद्धि बिगडे बिना रहती नहीं (४८७)."

लगता है परम्परया अधीत सिद्धान्त इन वचनामृतोंके प्रकाशनके समय विस्मृत हो गये होंगें!

वैसे एक हकीकत यह भी है कि इन वचनामृतोंकी मूल प्रतिमें स्पष्टतम शब्दोंमे लिखा था: "छठ्ठे घरके श्रीकल्याणरायजी हैं. श्रीयदुनाथजीकी आसक्तिका यह स्वरूप है. और उन्होंने चुपचाप इनकी सेवा की थी. उन्होंने श्रीबालकृष्णलालजीको नहीं स्वीकारे उसका कारण यह था कि यह बालस्वरूप है और रास(मण्डल)में उस स्वरूपकी स्थिति ही सम्भव नहीं, क्योंकि रासमें तो प्रौढ स्वरूपकी स्थिति ही सम्भव है. अब जो घर होता है वह बालकसे होता है श्रीठाकुरजीसे नहीं (६२)." सुरतके घरकी षष्ठपीठतया लाभपूजाभिवृद्ध्यर्थ क्योंकि स्वसेव्य श्रीबालकृष्णलालजीको षष्ठनिधि तथा स्वयंको 'श्रीयदुनाथगृहपरम्परोद्भव' कहा जा रहा है उसमें यह विधान आडे आ रहा था, सो प्रथम आवृत्ति इस अंशके निष्कासनके साथ प्रकाशित करवायी गयी थी. बादमें जब 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश : स्वरूप और कर्तव्य' पुस्तकमें मैंने सभी स्वमार्गियोंका इस छलकपटपर ध्यान आकर्षित किया तब द्वितीयावृत्तिमें इस वचनामृतको स्वस्थानच्युत करके परिशिष्टतया ग्रन्थान्तमें मुद्रित करवा दिया गया था. उल्लेखनीय, परन्तु, यही है कि परम्पराधीत सिद्धान्तनिष्कर्ष तब यदि ज्ञात थे तो अपनी असहमति प्रथमावृत्तिमें न सही द्वितीय संशोधित आवृत्तिमें तो प्रकट करनी थी! इससे सिद्ध होता है कि 'सेवा दे. द्र. विमर्श' ग्रन्थ परम्पराधीत सिद्धान्तबोधके आधारपर लिखा गया नहीं है.

हम कह चुके हैं कि संयुक्त घोषणापत्रमें तनुवित्तजैक्यका सिद्धान्त श्रीबालकृष्णलालजीने अपने हस्ताक्षरोपेत पत्र दि. २२-१०-८६ द्वारा मान्य किया था. इससे सिद्ध होता है कि तब तक श्रीबालुराजाका अध्ययन तथाकथित परम्पराके अनुसार नहीं हुआ होगा. अब, अर्थात् सन् '८६-९२ वर्षोंमें परम्पराप्राप्त सिद्धान्तग्रन्थोंकी ग्रन्थिओंका निराकरण अकस्मात् दैवीवाणीके सदृश प्रकट हुई परम्परासे हुआ भी स्वीकार लें तो भी बात बनती नहीं है, क्योंकि हाल ही में गतवर्ष श्रीहरिरायजी(जामनगर)के द्वारा पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें परिग्रहीत पक्षोंको अभिनन्दनीय मानकर उन्हें प्रशस्तिपत्र प्रदान किया गया था. उनके द्वारा परिग्रहीत पक्षोंकी सूचिपर भी दृष्टिपात इस प्रसंगमें आवश्यक हो जाता है :

(१) पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके अनुसार मानसीकी साधनरूपा जो सेवा उपदिष्ट हुई है वह एक तनुवित्तजा है या दो: (क) तनुजा (ख) वित्तजा हैं?—इस संशयमें त्रैविध्यपक्षको श्रीहरिरायजीने अधिकारिभेदवश मान्य किया था. अर्थात् उत्तमाधिकारी तनुवित्तजा करता है, मध्यमाधिकारी तनुजा या वित्तजा एवं जघन्याधिकारी लोकार्थी बनकर.

(२) भगवत्सेवा सेवाकर्ताकी मालिकीके घरमें ही करनी चाहिये. (ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंद्वारा की जाती वित्तजा सेवाको स्वीकारनेपर उनका मालिकाना हक सूरत सदृश हवेलिओंपर स्वीकारना होगा अन्यथा स्वीकृत परिभाषाके अन्तर्गत वह सेवा ही सिद्ध नहीं होगी.)

(३) गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ अर्थात् उभयार्थ होते हैं.

(४) पुष्टिमार्गीय सेवाकर्ता भगवत्सेवाद्वारा भेट या सामग्री उपार्जित कर सकता है या नहीं इस संशय में तथाभिनन्दित 'पु. सि. सं. शि.' श्रीहरिरायजीद्वारा ग्रहीत पक्ष यह था कि अधिकारिभेदवशात् उत्तमाधिकारी नहीं बनाता पर जघन्याधिकारी तो बनाता ही है. इस अधिकारिभेदके अन्तर्गत भी आजीविकातया भगवत्सेवा करनेवाला देवलक होता है यह भी स्वीकारा था ही. (जबकि अब इस नूतन पक्ष के अनुसार देवलक नहीं होता. ऐसी स्थितिमें वस्तुत: होता हो कि नहीं होता यह दूसरी बात है, कमसे कम एक वर्ष पूर्व परम्परया अधीत विषय या तो विस्मृत या अज्ञात था इसमें सन्देह नहीं. अन्यथा चि. हरिरायजीको तो अभिनंदित नहीं ही किया जाता. अथवा यह परम्परया अधीत सिद्धान्तमूलक निष्कर्ष न होकर स्वयं कहीं जघन्याधिकारी सिद्ध न हो जायें ऐसा प्रतिष्ठाहानिभीतिमूलक तो नहीं, साथ

ही साथ आजीविकातया अनुष्ठित भगवत्सेवाद्वारा आर्थिक लाभके मोहपर भी काबू न पानेके कारण प्रकट हुआ पक्ष तो यह कहीं नहीं है!)

(५) स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहण विषयके अन्तर्गत तथाभिनन्दित 'पु. सि. सं. शि.' चि. हरिरायजीका पक्ष था कि सरकारी कानूनको स्वीकार भगवत्सेवार्थ पेम्फलेट-रसीदद्वारा परवित्तग्रहण देवलकत्वापादक होता है. (वह भी इस नूतन ग्रन्थ में छोडा गया है स्वार्थसंरक्षणार्थ!)

(६) आचार्यवचनाशय-निर्धारणप्रकारके अन्तर्गत जो प्रामाण्यव्यवस्था थी तदन्तर्गत तथाभिनन्दित 'पु. सि. सं. शि.' चि. हरिरायजीसे मैंने पार्लेवाली सभामें यह पूछा था कि उन्हें पू. पा. म. श्रीके विधान प्रमाणतया मान्य हैं कि नहीं? क्योंकि स्वयं उन्हींके परिवारकी नडियादवाली हवेलीके केसमें एक मान्य विशेषज्ञकी हैसियतमें पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने गवाही दी थी! पू. पा. महाराजश्रीसे वकीलने पूछा था— "किसी भी पुष्टिमार्गीय मंदिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा तथा नेगभोग के लिए तथा श्रीठाकुरजीकी सेवाके निर्वाहार्थ भेट इत्यादि देकर वित्तजा सेवा करता हो तो; और उस मंदिरमें तनुजा सेवा करता हो तो वह मंदिर पुष्टिमार्गीय नहीं है ऐसा आपका कहना है?" इसपर पू. पा. म. श्रीने प्रत्युत्तर दिया था— "पुष्टिमार्गीय मंदिरमें वैष्णवोंद्वारा तनुजा या वित्तजा सेवा स्वतंत्र करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं है और ऐसी सेवा की जाती हो तो उसे 'साम्प्रदायिक मन्दिर' नहीं कहा जा सकता."

बिचारे तथाभिनन्दित पु. सि. शं. शि. की वाणी लडखडाने लग गई और अन्तमें "मुझे इस बारेमें कुछ भी नहीं कहना है" कहकर शाखाचंक्रमण करना पडा. यदि चर्चासभाकी पूर्वरात्रिको आदरणीय श्रीगोविन्दरायजी (पोरबंदर)के यहां श्रीकल्याणरायजी, श्रीबालकृष्णलालजीने अपने अघोषित प्रतिनिधितया जब चि. हरिरायजीको उपस्थापित करना चाहा था तथा चर्चासभाके संचालनके नियमोंमें संशोधन-परिवर्धनादि संवादस्थापकमण्डलद्वारा करवाये तब इतनी सूचना और दे दी होती तो यह हाल तो नहीं होता! क्योंकि स्ववचनगौरव या स्ववचनप्रामाण्य स्वयंको अनभीष्ट हो तो बिचारे 'पु. सि. सं. शि.'को चर्चामें वृद्धजनकी गौरवहानिकी भीतिसे लडखडाना तो न पडता! हकीकत परन्तु यही है कि तबतक परम्परया अधीत(!) सिद्धान्तबोधका उदय ही नहीं हुआ था.

'पुष्टिने शीतल छांयडे' में परम्परया अधीत जैसे सिद्धान्तोंका निरूपण हुआ है वह तो विमर्शविशोधनिका एवं क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग में यथावसर आगे चलकर निरुपित करेंगे ही.

कुल मिलाकर इन सभी मुद्दोंका गंभीर आकलन करनेसे मनःप्रत्यय नहीं होता कि मुखपृष्ठपर इंगित पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री इस ग्रन्थके कर्ता हों.

पूर्वमें भी 'कल्याणराय'समानार्थी 'खेमराज' छद्मनामसे अनर्गल बातें परिपत्रोंद्वारा प्रकाशित करवाई गई तब भी मैंने निवेदन किया था कि अधीत भ्रातृत्रयीको यह शोभा नहीं देता. परन्तु अब मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर के अपने मतको, यद्यपि स्पष्टकर्तृनाम्ना न सही फिर भी स्पष्टभाषामें, सो भी अतीव परिमार्जित शालीन तथा निर्वैयक्तिक भाषामें, ग्रन्थ प्रकट किया है वह वस्तुतः जितने भी अभिनन्दन दिये जायें उससे कुछ अधिक ही अभिनन्दनीयतासे मण्डित है —इसमें सन्देह नहीं.

इस आमुख-दर्पणमें या आगे भी जहां-कहीं मुझे वैयक्तिक सन्दर्भोंमें कुछ चर्चा छेडनेको बाधित होना पडा है या होना पडेगा उसके कारण मेरा मन भीतरसे अपराधबोधसे तो ग्रस्त हो ही रहा है तथा आगे भी होता रहेगा —इसमें संशय नहीं. पर "दूधका जला छाछको भी फूंक मारकर पीता है" वैसी ही कुछ मेरी भी मनोग्रन्थियां बंध गई है. अतः सभी सहृदय पाठक इस पर्देकी ओटमें खेले गये नाटकके विवरणको पढकर मेरे प्रति सहानुभूतिपूर्ण क्षमाभाव प्रकट करेंगे. मैं अपने बनते यथाशक्य निर्वैयक्तिक युक्ति-प्रतियुक्तियोंके निर्वैयक्तिक समाधान ही देनेका भरसक प्रयास करूंगा. फिर भी यत्र-तत्र होनेवाले स्खलनकी पूर्वक्षमायाचना मांगना चाहूंगा. सो सर्वबुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णचरणकमलके परागसे मेरे भाव तथा भाषा परिपूत रहें ऐसे शुभमनोरथके साथ.

— *गोस्वामी श्याममनोहर*

* * *

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सेवाप्रकरण

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

प्रस्तुत प्रकरणमें मुख्यतया विचार्य विषय हैं: श्रीमहाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तमुक्तावलीके प्रारम्भके श्लोक तथा उनपर विरचित श्रीप्रभुचरण, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजी, श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी, श्रीद्वारकेशजी, श्रीलालमणिसुत श्रीविठ्ठलरायजी तथा श्रीनरसिंहलालजी की टीकाएं. तदनुसार सर्वप्रथम मूलवचन है—

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्[१]।
कृष्णसेवा[२] सदा[३] कार्या[४] मानसी सा परा मता[५]॥
चेतस्तत्प्रवणं सेवा[६] तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा[७]।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्[८]॥

कुल मिला कर इन दो कारिकाओंमें (१) उपदिश्यमाण कर्तव्यकी सिद्धान्तविनिश्चितता (२) उपदिश्यमाण कर्तव्यके कर्म अथवा विषयका स्वरूप (३) उपदिश्यमाण कर्तव्यांगभूत कालका स्वरूप (४) उपदिश्यमाण कर्तव्यकी कृत्यर्हता तथा आवश्यकता (५) फललक्षण (६) स्वरूपलक्षण (७) साधनलक्षण तथा (८) आनुषंगिक या अवान्तरफल लक्षण —इतनी बातें हैं.

तदन्तर्गत विप्रतिपत्तिग्रस्त अंश प्रायशः ६ठा ७वां तथा ८वां हैं फिर भी प्रमुख तो ७वां अंश ही है सो उसपर ही सर्वप्रथम विचार आवश्यक है:

(1) "तत्-सिद्ध्यै तनु-वित्त-जा"

६ठे श्लोकांश "चेतस्तत्प्रवणं सेवा" अर्थात् 'तत्=कृष्ण'प्रवणचित्तरूपा सेवा पूर्वप्रकृत होनेसे उसका ही परामर्श 'तत्-सिद्ध्यै' अन्तर्गत 'तत्' पदसे हो रहा है, अथवा फलोपयोगिस्वरूपोपलक्षित 'मानसी सेवा'रूप फलका भी परामर्श प्राचीन टीकाकारोंने स्वीकारा है. किसी भी स्थितिमें 'मानसी सेवा'रूप फलके व्यवहित होनेके कारण स्वरूपद्वारक ही परामर्श उसका शक्य है. इस एक प्रासंगिक निरूपणके बाद अब यथोचित "तस्य = तत्प्रवणचेतसः अथवा तस्याः = मानस्याः सिद्ध्यै = तत्सिद्ध्यै" विग्रहके अनुसार अर्थग्रहण करना चाहिये. यहां 'तत्सिद्ध्यै' में चतुर्थीको 'पत्ये शेते' उदाहरणद्वारा "क्रियया यमभिप्रैति सोपि सम्प्रदानम्" नियमानुसार लेनी अथवा "मुक्तये हरिं भजति" उदाहरणद्वारा "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" नियमानुसार लेनी अधिक उचित है? प्रथम कल्पमें कृष्णप्रवणचित्तसिद्धि एक ऐसा सम्प्रदानकारक बनेगा जिसके पूर्वसिद्ध होनेपर ही तनुवित्तजा क्रिया सम्पन्न हो पाती है अन्यथा नहीं. उल्लेखनीय है कि "चित्तकी कृष्णप्रवणता" कृष्णसेवाका स्वरूपलक्षण होनेसे फलावस्था-साधनावस्था उभयसाधारण सिद्ध होगा. अतः अकृष्णप्रवण चित्तद्वारा अनुष्ठित तनुवित्तजा क्रिया कृष्णसेवा ही नहीं रह जायेगी. और यदि कारक क्रियार्थ होते हैं - क्रिया कारकार्थ नहीं, तदनुसार तत्प्रवणचित्तसिद्ध्यर्थ तनुवित्तजा सेवाका अनुष्ठान यदि उपदिष्ट होता मानना हो तो तदितरप्रयोजनार्थ तनुवित्तजाका अननुष्ठान भी अर्थलग्न ही आ जाता है.

इसी तरह 'तनुवित्तजा'पदद्वारा विवक्षितार्थके बारेमें जो तीव्र विप्रतिपत्तियां उभरी हैं, उस सन्दर्भमें कुछ मौलिक व्याकरणके नियमोंको एक बार हृदयंगम करनेके बाद ही भक्तिमार्गीय सिद्धान्त एवं व्याख्याओं की विवेचना उपकारिणी हो पायेगी.

एतदर्थ 'सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श'ग्रन्थकारका पक्ष 'विमर्श' नाम्ना तथा श्रीमहाप्रभुप्रभृति प्राचीन ग्रन्थकारोंका पक्ष 'विशोधनिका' नाम्ना दिया जायेगा. तदनुसार -

विमर्श: 'तनुवित्तजा'पदसे तनुजा एवं वित्तजा का बोध : यहां तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते ताभ्यां जाता तनुवित्तजा. 'तनुवित्त' पदमें द्वन्द्व समास है, अनन्तर 'जा' पद आया है. अतः "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इस नियमके अनुसार 'तनु' और 'वित्त' –इन दोनों पदोंके साथ 'जा' पदका अन्वय होता है. इस प्रकार 'तनुवित्तजा'पदसे 'तनुजा' 'वित्तजा' ये दो सेवाएं मानसीके साधन निश्चित होती हैं.

विशोधनिका: "चार्थे द्वन्द्वः"- पाणिनिसूत्रके वार्तिक तथा भाष्यमें वार्तिककार तथा भाष्यकार कहते हैं—"चार्थे द्वन्द्ववचने असमासेपि चार्थसंप्रत्ययादनिष्टं प्राप्नोति 'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं वैवस्वतो न तृप्यति'... सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात् सिद्धमेतत्. कथम्? युगपदधिकरणवचने द्वन्द्वो भवतीति वक्तव्यम्". प्रदीपकारने इसका स्पष्टीकरण इस तरह दिया है कि एक-एक शब्दसे जब एकसाथ कोई एक बात ऐसी कहनी हो, जो समुदायरूप हो, तब द्वन्द्व होता है. "गाय, घोडा, पुरूष, पशु के प्राण यमराज प्रतिदिन लेता रहता है परन्तु सन्तुष्ट नहीं होता" वचनमें 'गाय', 'घोडा' आदि पदोमें द्वन्द्व समास नहीं होनेका कारण यही है कि यमराज गायकी अपेक्षा रखते हुए घोडेका अथवा घोडेकी अपेक्षा रखते हुए गायके प्राण नहीं हरता. वैसे दोनों अर्थात् किसी

भी प्राणीके प्राण हरता है तो इतरनिरपेक्षतया-स्वतन्त्रतया प्राण हरता है. अतएव ऐसी स्थितिमें 'गाय'-'घोडा' पदोंको द्वन्द्व समासमें जोडा नहीं जाता. प्रत्युत गाय एवं घोडे का भिन्न-भिन्न शब्दोंद्वारा पृथक्बोध ही पैदा होता है.

अतएव 'प्लक्षन्यग्रोधौ'समासके उदाहरणमें द्वन्द्व समासके स्वभावको समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं— "सहभूतावेव अन्योन्यस्य अर्थम् आहतुः न पृथग्भूतौ" (यहीं) अर्थात् द्वन्द्व समासमें समासघटक दोनों पद परस्पर सहभूत होकर ही अपना एक अर्थ कहते हैं, पृथग्भूत होकर नहीं. इससे समझमें आना चाहिये कि 'तनुवित्तजा'पदमें भी 'तनु'-'वित्त'पद यदि सहभूत होकर ही अपना अर्थ कह पाते हों पृथग्भूत होकर नहीं तो द्वन्द्वान्तश्रुत 'जा' पद भी अपना अर्थ द्वन्द्वघटक सहभूत 'तनु-वित्तसे जन्य'तया ही अपना अर्थबोधन करा पायेगा, पृथग्भूत 'तनु' और 'वित्त' से जन्यतया नहीं. अतः "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्पद्यते"का झंडा हाथमें लेकर दौडनेवाले स्वयं द्वन्द्व समासके अर्थ, स्वभाव एवं नियम से नितान्त अनभिज्ञता प्रकट करते प्रतीत होते हैं.

वास्तविकता जबकि यह है कि प्रदीपकारने भी स्वयं 'च'के (१) समुच्चय (२) अन्वाचय (३) इतरेतरयोग (४) समाहाररूप चार अर्थ समझाये हैं. परस्पर निरपेक्ष पदार्थोंका जब क्रियामें समुच्चय होता है, उदाहरणतया, "गाय, घोडा, पुरुष, पशु (सभी)का यमराज प्राण हरता रहता है" वाक्यमें परस्पर निरपेक्ष गाय, घोडा आदिका समुच्चय प्राणहरणात्मिका क्रियामें द्योतित हो रहा है. वह 'च'कारके बिना भी द्योतित हो रहा है. अतः समासमें जुड पानेको 'गाय', 'घोडा' आदि पद समर्थ नहीं है. "न्यग्रोधको देखो" कहकर जब "और प्लक्षको भी" कहा जाता है तो अन्वाचयका उदाहरण बनता है. यहां दर्शनक्रियामें न्यग्रोधकी प्रधानता और प्लक्षकी गौणता प्रकट होती है. अतः प्रधान-न्यग्रोध-द्वारक गौणप्लक्षका क्रियान्वय होनेसे द्वन्द्वसमासका घटक बन पानेको समर्थ नहीं हैं. क्योंकि प्रधानपद 'न्यग्रोध' 'च' के अन्वाचय अर्थमें प्रयुक्त नहीं है. गौणपद 'प्लक्ष' ही अन्वाचयके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. अतः यहां भी द्वन्द्वसमास नहीं होता. 'च'का तीसरा अर्थ है:इतरेतरयोग. 'इतरेतरयोग' यानि परस्पर अपेक्षा रखनेवाले अनेक पदोंके एक अर्थमें समन्वित होनेपर 'च'शब्दसे द्योतित होती उनकी परस्परसहितता. अतः यह द्वन्द्व समासका योग्य उदाहरण है. चतुर्थ समाहारके अर्थमें भी परस्परसहितका भान होता होनेसे वहां भी द्वन्द्वसमास हो सकता है.

अतएव महामहोपाध्याय जयराम न्यायपञ्चानन भट्टाचार्य समासवादमें इसका स्पष्ट खुलासा देते हैं कि 'च'के चारमें से दो अर्थोंमें द्वन्द्वसमास हो सकता है. (१) इतरेतरयोग (२) समाहार. जहां अवयवार्थकी प्रधानता होती है वहां इतरेतरयोगरूप द्वन्द्वसमास होता है. प्रधानता यानि विभक्तिके अर्थसे जुडना. अतएव द्विवचन या बहुवचन का प्रयोग इतरेतरयोगद्वन्द्वमें होता है. उदा. 'धवखदिरौ' 'धवखदिरपलाशाः', जहां संहति = सहितता प्रधान होती है वहां समाहारद्वन्द्व होता है. दोनोंकी या दोसे अधिककी सहितता क्योंकि एक धर्म है अतः वहां एकवचन ओर नपुंसकलिंगका प्रयोग होता है... अतएव 'चार्थे द्वन्द्व' पाणिनिसूत्रमें समुच्चय और अन्वाचय अर्थके अलावा इतरेतरयोग और समाहार ही 'च'के अर्थतया अभीष्ट हैं. समाहार = साहित्य = सहितता तथा इतरेतरयोग=साहित्यविशिष्टता. अतएव "धर्मार्थकामादि जो कुछ सम्पन्न करने हों इसके साथ करना" –इस विधानमें पत्नीका सहभाव ही द्योतित होता है, साहित्य नहीं. अर्थात् पत्नीकी अनुमतिद्वारा भी धर्मार्थकाम सम्पन्न किये जा सकते हैं. जबकि साहित्य यदि विवक्षित हो तो अनुष्ठानक्रियामें सहकर्तृत्व नियत बन जायेगा.

अतएव इस सन्दर्भमें सिद्धान्तकौमुदीतत्त्वबोधिनीकारका भी एक मननीय स्पष्टीकरण है–"... अतः इतरेतरयोग और समाहार में परस्परसाहित्यके विद्यमान रहनेके कारण द्वन्द्वसमास होता है. समुच्चय या अन्वाचय में उसके न होनेके कारण द्वन्द्वसमास नहीं होता. फिर भी इतरेतरयोगमें परस्पर साहित्य विशेषण होता है और परस्परसहित द्रव्य विशेष्य. जबकि समाहारमें परस्पर साहित्य प्रधान तथा द्रव्य विशेषण." (सि. कौ. तत्त्वबो. द्वन्द्व प्रक. २/२/२९).

इसपर टिप्पणी करते हुए म. म. शिवदत्तशास्त्रीने भी स्पष्टीकरण दिया है कि कौमुदीकारद्वारा प्रदत्त "मिलितानामन्वयः इतरेतरयोगः–समूहः समाहारः" लक्षणमें 'मिलितानां'का अर्थ है परस्परापेक्षा रखनेवाले उद्भूत तथा भिन्न अवयवोंवाला समूह. उसके 'अन्वय'का अर्थ है एकधर्मावच्छिन्नतया अन्वित होना. इसीतरह समाहारान्तर्गत 'समूह'का अर्थ है अनुद्भूत तथा भिन्न अवयवोंवाला समूह. यहां इतरेतरयोगमें क्योंकि उद्भूतावयवभेद समूहकी प्रतीति होती है अतः प्रवृत्तिनिमित्त प्रत्येकवृत्ति धर्म होता है जबकि समाहारमें विभिन्न अवयव अनुद्भूत रहते होनेसे समूहका अतिरिक्ततया भांन होता है. अतः समूह ही प्रवृत्तिनिमित्त बनता है.

प्रकृतमें विमर्शकारने भी "तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते" कहकर समाहार द्वन्द्व तो स्वीकारा नहीं है अतः 'तनुवित्ते' द्वन्द्वमें तनु और वित्त को पहले उद्भूतभेद तथा प्रत्येकवृत्ति पदप्रवृत्तिनिमित्तधर्मवान मान कर पश्चात् एकधर्म = तनुवित्तत्वरूपसे अपने प्रथमा द्विवचन अथवा तृतीया द्विवचनमें अन्वित मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें त्रिकालमें भी "तनुवित्ताभ्यां जाता तनुवित्तजा" का अर्थ "तनुजा और वित्तजा" निकल ही नहीं पायेगा.

ऐसी स्थितिमें "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" नियम भी केवल इतनी ही बात कह पायेगा कि जिस सेवा = क्रियाका अनुष्ठान तनु-वित्तसे सम्पन्न

करना है वह तनुरहित वित्त अथवा वित्तरहित तनुसे सम्पन्न नहीं हो सकता. वह क्रिया प्रत्येकसे अभिसम्बद्ध होनी चाहिये. अतः प्रत्येकके साहित्यसे ही उसे सम्पन्न करना पडेगा. भूलना नहीं चाहिये कि द्वन्द्व यहां तनु-वित्तका है, तज्जन्य क्रियाका नहीं. ऐसी स्थितिमें "तनुजा और वित्तजा" अर्थ करना पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि-कैयट-नागेशादिके श्राद्ध किये बिना शक्य नहीं है.

इतरेतरयोग द्वन्द्व कौमुदीकारके अनुसार भी, "मिलितानाम् अन्वयः" अर्थात् प्रकृत सन्दर्भमें द्विपद द्वन्द्व होनेसे "मिलितयोः अन्वयः" तदनुसार "परस्परापेक्षयोः तनुवित्तयोः उद्भूतावयवभेदयोः = तनुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक-वित्तानुयोगिक-वित्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतन्वनुयोगिकभेदसमूहरूपयोः तनुवित्तयोः सेवारूपक्रियानिष्ठजन्यतानिरूपितकरणतावच्छेदकरूप = एकधर्मावच्छिन्नत्वेन = तनुवित्तत्वेन अन्वयः" अकामगलेपतित है.

यदि यह नहीं स्वीकारते तो "समस्तपितृणां निरतिशयानन्द-ब्रह्मलोकावाप्त्यादि-कन्यादानकल्पोक्तफलावाप्तये अनेन वरेण अस्यां कन्यायाम् उत्पादयिष्यमाण-सन्तत्या द्वादशावरान् द्वादशपरान् पुरुषांश्च पवित्रीकर्तुम् आत्मनश्च श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये अमुकगोत्रोत्पन्नाय विष्णुरूपिणे रामकृष्णदासनाम्ने वराय इमां लक्ष्मीरूपिणीं कन्यां तुभ्यमहं सम्प्रददे" के संकल्पपूर्वक दिये गये कन्यादानके बावजूद कोई स्वैरिणी "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" व्याकरणनियमकी दुहाई देकर रामकृष्णदासनामक स्वपतिके अलावा किसी 'रामदास' एवं 'कृष्णदास'नामक जारपुरुषोंसे सन्तति प्रकट करने लगे तो भी द्वादशावर द्वादशपर पुरुषोंके निरतिशयानन्द-ब्रह्मलोकफलावाप्तिपूर्वक स्वयं कन्यादाताको श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतिरूपफल मिलना चाहिये!

अन्यथा अधिकसे अधिक यहां भी यह तो कहा ही जा सकता है कि उक्त फलप्राप्तिसाधिका केवल रामकृष्णदासरूप वरसे उत्पन्न सन्तति होगी. एतावता 'रामकृष्ण'रूप द्वन्द्वके अन्तमें श्रूयमाण 'दास'पद, क्योंकि राम और कृष्ण उभयसे अभिसम्बद्ध है एतावता रामदास एव कृष्णदास नामक उपपतियोंके साथ रमणको कथमपि असंकल्पित अधर्म तो कहा ही नहीं जा सकता! तब तो लोग व्याकरणशास्त्रको व्यभिचारशास्त्र ही मानने लग जायेंगे! द्वन्द्वसमासका ही द्वन्द्वान्त कर देंगे!

उल्लेखनीय है कि विमर्शकार भी श्रीमहाप्रभुद्वारा संकल्पित प्रकारसे स्वतनुवित्तजन्या सेवाको मानसीकी साधिका तथा "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण..." नियमानुरोधवश तनुजा और/अथवा वित्तजा को अनिषिद्ध मान रहें हैं —यह उल्लिखित स्वैरिणीसदृश ही अर्थघटन है!

(II) श्रीमत्प्रभुचरण-विरचित-विवृति

(१) 'स्वसिद्धान्ते'ति... स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः. (२)

तमेवाहुः 'कृष्णसेवे'ति. फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते... (३) सेवा हि सेवकधर्मः; तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः 'सदे'ति. (४) आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते. (५) साच फलरूपा साधनरूपा चास्ते. तत्र 'मानसी सा परा' फलरूपेत्यर्थः, यथा व्रजसीमन्तनीनाम्. तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं "ता नाविदन् मय्यनुषंगबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्" इत्यादि. (६) एतदेव सेवास्वरूपम् इत्याहु 'चेत' इति. (७) उक्त-सेवा-साधने इतरे इत्याहुः 'तदि'ति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता चापरा —एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः. (८) एतादृशस्य अवान्तरफलं भवतीत्याहुः 'तत' इति. अहन्ताममतात्मकः संसारः नतु प्रपञ्चात्मकः; तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्. तन्निवृत्यानिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे च अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्. भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यपि अनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभावाद् भवत इति भावः. (सि. मु. वि. १ - २).

(१) इस प्रथम अंशमें तो यही केवल मननीय है कि जिस तरहका अनिश्चितरूप कृष्णसेवाका आज हमने बना रखा है उससे कितने विपरीत भाव पिता-पुत्रके हैं.

(२) द्वितीय अंशमें मननीय यह है कि श्रीप्रभुचरणने स्पष्ट शब्दोंमें कृष्णसेवाके, अन्यशेषतया नहीं प्रत्युत स्वतःपुरुषार्थत्वेन, अनुष्ठानको ही स्वसिद्धान्त माना है. धर्मप्रचारार्थ या आजीविकोपार्जनार्थ अन्यशेषतया कृष्णसेवाका अनुष्ठान स्वसिद्धान्त न होकर सर्वथा अपसिद्धान्त है.

(३) तृतीय अंशके मनन करनेपर यह भी स्पष्ट हो ही जाता है कि आधुनिक कालमें पुरुषोत्तममास (= मनोरथोंके आडंबरद्वारा द्रव्योपार्जनकी सीझन) के कालपरिच्छेदको अथवा दैनंदिन आठसमयकी झांकीके कालपरिच्छेदमें अथवा वार्षिक उत्सवोंके कालपरिच्छेदमें वैष्णवोंको वित्तजासेवा करनेके लिये जैसे उकसाया जा रहा है वह भी अपसिद्धान्त है. क्योंकि परिच्छिन्नकालके निमित्तानुरोधवश नहीं प्रत्युत कालापरिच्छिन्न आत्मस्वरूपानुरोधवश कृष्णसेवाकी कर्तव्यताका ही सिद्धान्त है. वह तो अर्थोपार्जनार्थ स्ववित्तसामर्थ्यसे बढा-चढाकर भगवत्सेवाका प्रदर्शन करनेवाले सार्वजनिक मन्दिरोमें नहीं परन्तु अपने घरमें ही संभव है.

(४) चतुर्थांशमें विशेषतया उल्लेखनीय यही बात है कि एकविध, द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, षड्विध, नवविध या द्वादशविध भी सेवा क्यों न हो, स्वमार्गप्रवर्तक पिता-पुत्रके अनुसार सेवा स्वमार्गिओंका एक ऐसा कर्तव्य है जिसे यथोक्तरूपमें

न करनेपर व्यक्ति प्रत्यवायी बनता है. अतः कृष्णसेवाका सिद्धान्ताभिमत स्वरूप एकविध हो तो उसके अकरणपर और अनेकविध हो तो उसके अकरणपर मार्गानुयायी प्रत्यवायी बन जाता है. ऐसी स्थितिमें क्योंकि यथाश्रुत 'तनुवित्तजा'पक्ष तो निसंदिग्ध सिद्धान्त है अतः विशोधनिकाद्वारा उसपर भार देनेसे प्रत्यवायी होनेका कोइ प्रसंग नहीं जबकि अश्रुत स्वार्थकल्पित त्रिविध पक्ष संदिग्ध है अतः उसके अनुष्ठानमें प्रत्यवायसन्देह वज्रलेपायित है.

(५) पांचवे अंशकी व्याख्या करते हुए श्रीप्रभुचरणने यह स्पष्ट कर दिया है कि मूलतः कृष्णसेवा तो एक ऐसा कर्तव्य है कि जिसके दो रूप होते है: (क) फलावस्थापन्नरूप (ख) साधनावस्थापन्नरूप. अर्थात् स्वयं कृष्णसेवा ही कभी साधनरूपा होती है तो कभी फलरूपा. कृष्णसेवा ऐसा साधन नहीं है कि जिसका साध्य कृष्णसेवासे अतिरिक्त कोई फल हो.

जैसे द्विजका नित्यकर्म वेदादिशास्त्रस्वाध्यायरूप ब्रह्मयज्ञ, अक्षरग्रहण अर्थबोध तात्पर्यबोध आवर्तनोंकी विभिन्न अवस्थाओंमें, स्वयं उत्तरोत्तर साध्यफलभावापन्न होता रहता है. अवान्तरफलरूप निशंक कर्मानुष्ठानकी कथा दूसरी है. (अनुसंधेयः "निष्कारणं ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च").

एक और उल्लेखनीय बात जो श्रीप्रभुचरणने इस अंशमे निरूपित की है वह यह है कि इस मानसीसेवाको फलरूपा कहा और इसके व्यक्त्युदाहरणतया व्रजगोपिकाओंका उल्लेख किया है. इसीतरह प्रमाणवचनोदाहरणतया "तानाविदन् मय्यनुषंगबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदं यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे". श्रीभागवतश्लोकका उल्लेख किया है. युगलगीतके प्रसंगमें व्रजगोपिकाओंकी मानसी लीलानुभूतिका वर्णन उपलब्ध होनेपर भी तथा व्यासवचनमें लेशतः भी ईषत्प्रामाण्यका तो कोई प्रश्न न रहनेपर भी एकादशस्कन्धीय भगवद्वचनका प्रमाणवचनत्वेन उपन्यास यहां किसी विशेष बातकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है. इस वचनमें दो तथ्य वर्णित हुए: (अ) भगवदनुषंगबद्धधीता (आ) स्वपर(: ऐहिक-पारलौकिक सर्व)विस्मरण. ऐसी स्थितिमें प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध ही यहां विवक्षित है –इतना तो स्पष्ट है.

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मानसी सेवा, मानस ध्यान या चिन्तन के रूपमें परा = फलरूपा नहीं परन्तु प्रपंचविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिके रूपमें ही परा = फलरूपा है. ऐसी स्थितिमें धर्मप्रचारार्थ-शिष्यसंग्रहार्थ-धनसंग्रहार्थ प्रपञ्चाभिनिवेशपूर्विका भगवदासक्तिरूपा फलसिद्धिके लिए तो कृष्णसेवोपदेश हो ही नहीं सकता. अतः विमर्शपक्षका अपसिद्धान्त होना विवृतिअनावृत ही है.

(६) इस षष्ठ अंशमें प्रभुचरण कृष्णसेवाकी फलावस्थाके स्वरूपानुरोधवश कृष्णसेवाका सामान्यस्वरूप "एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहु 'चेत' इति" अंशद्वारा निरूपित कर रहे हैं. यहां फलावस्थाका ही निरूपण है अथवा सेवाके फलसाधनोभयावस्थासाधारण सामान्यस्वरूपका –इसमें टीकाकारोमें प्रस्थानभेद है. इसका यथावसर आगे चलकर स्पष्टीकरण देंगे.

(७) यह अंश निरतिशय विवादग्रस्त बन गया है. अतः यहां अतिशय सावधानीपूर्वक मननकी आवश्यकता है. अतः सर्वप्रथम इस अंशगत विभिन्न विधानोंका विहंगावलोकन कर लेना चाहिये :

उत्थानिका : (क) उक्तसेवा-साधने इतरे इति आहुः 'तत् (सिद्ध्यै तनुवित्तजा)' इति.

अभिप्रायज्ञापिका : (ख) वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा –एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.

निष्कर्ष : (ग) एतेन भगवदर्थं निरूपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः.

(क) 'उक्तसेवा' = छठे अंशमें अथवा प्रथमसे प्रारम्भ करके छठे अंशतक जैसे प्रकारकी सेवा निरूपित की गई है वैसी सेवा.

'साधने इतरे' = 'तनु-वित्ते' अर्थ लेना या 'तनुज-वित्तजे' लेना इसमें विमर्शपक्ष है 'तनुज-वित्तजे'. श्रीमहाप्रभुसे प्रारम्भकर परवर्ती प्रायः सभी टीकाकारोंको अभिप्रेतार्थ 'तनुवित्त' ही प्रतीत होता है. जिन्होंने –अर्थात् श्रीवल्लभजी, श्रीव्रजनाथजी, श्रीलालुभट्टजी तथा श्रीद्वारिकेशजीने –यथायथ कभी समासविग्रहार्थ अथवा कभी "प्रसक्तस्य प्रतिषेधो" न्यायसे 'तनुजवित्तजे' लिया है वह सिद्धान्तानुमोदित अनुष्ठेयतया नहीं. इसपर विस्तृत विचार क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग परिच्छेदमें आगे चलकर किया जायेगा.

हम देख चुके– द्वन्द्वसमासके प्रयोगकी व्याकरणशास्त्रीय मर्यादाके अनुरोधवश स्वयं वाक्पति वक्ता भी "तनुजा और वित्तजा"के द्वन्द्व की विवक्षावश यदि 'तनुवित्तजा' प्रयोग करे तो उसे अशुद्ध प्रयोग अथवा आर्षप्रयोग ही मानना पडेगा. ऐसी स्थितमें किसी भी व्याख्याकारद्वारा वैसे अर्थका ऊह करना या तो स्वयंके व्याकरणशास्त्रीय निरतिशय अज्ञानका द्योतन है अथवा मूलकारपर अशुद्ध प्रयोग करनेके आक्षेपमें ही फलित होगा. अतएव स्वयं विमर्शकारको (पृ.९२-९३) इतना तो स्वीकारना ही पडा है कि केवल तनुजा अथवा केवल वित्तजा मानसीकी साधन नहीं है. उदाहरणतया खीर बनानेके लिये चावल, घी, दूध, चीनी, अग्नि, पात्र, रसोई बनानेवाला –इन सबकी आवश्यकता होती है; इनमेंसे एक भी सामग्री कम होगी तो खीर नहीं बन सकती. ऐसी स्थितिमें मानसीकी साक्षात्साधनता तो विमर्शकारके भी मतमें तनुवित्तजार्थ ही गलेपतित है. रही

बात परम्परया साधन होनेकी –अर्थात् 'तनुवित्तजा'को कारणसामग्री मानकर तनुजा एवं वित्तजा को कारणसामग्रीघटक पदार्थ माननेकी– तो निरुपधिभक्तिभाववश विचार्यविषयविमर्शार्थ यदि विमर्शकारकी प्रवृत्ति होती तो समझनेमें किसी तरहकी कठिनाई न आती कि केवल वित्तसे, अर्थात् स्वकीय या परकीय तनुके साहित्यके बिना, भगवत्सेवाका अनुष्ठान शक्य ही नहीं. इसी तरह जबतक मानसी सिद्ध न हो तब तक केवल तनुसे भी, अर्थात् स्वकीय या परकीय वित्तके साहित्यके बिना, भगवत्सेवाका अनुष्ठान अशक्य न भी हो तो दुःशक तो अवश्य होता है. अतः स्वकीय या परकीय तनु या वित्त के साहित्यपूर्वक ही सेवात्मिका क्रियाका वस्तुस्वभावानुरोधविवश एकत्व तो त्रिकालाबाधित सत्य है. अतएव द्वित्व तो अकाम भी तनुवित्तनिष्ठ ही हो सकता है. तनुवित्तजा क्रियायें दो नहीं कही जा सकती तो द्वित्वाधिकरणीभूत साधनता प्रत्येक दो क्रियाओंमें नही परंतु पर्याप्तिसंबंधसे तनुवित्तमें ही आयेगी. वित्तसाहित्यरहिततनुजा या तनुसाहित्यरहितवित्तजा क्रियाओंमें स्वरूपासिद्धि दोष होनेसे तथा कथंचित् स्वरूपोपपत्ति देनेपर उन क्रियाओंमें द्वित्वाधान तनुवित्तपर्याप्तद्वित्वद्वारा ही सम्पादित होता होनेसे; तथा विमर्शकारद्वारा प्रदत्त चावल, चीनी, दूध आदिके उदाहरणानुसार भी यह अप्रत्याख्येय होनेसे अकामगलेपतित है. अतः "यल्लिंगं यद्वचनं या च... विशेषणस्यापि"नियम सार्वत्रिक या क्वाचित्क होनेकी विचारणा अकिंचित्कर है. वैसे 'साधने'का नपुंसकलिंगके द्विवचनमें प्रयुक्त होना नपुंसकलिंगके द्विवचनान्त 'तनुवित्ते'विशेषणके विशेषणतया सुसंगत है. फिर भी उत्थानिकामें तनुजा-वित्तजा सेवाको उद्देश्य बना कर ऐसे साधनत्वका विधान करना कि जिसका अव्यवहितोत्तर तात्पर्यनिरूपणमें निषेध करना है –एक असमंजस विचाररीति लगती है. उदाहरणतया कोई कहे –

मूलवाक्य : खीर बनती है चावल, चीनी, घी, दूध, पात्र, अग्नि, पाचक सामग्रीसे.

व्याख्या : खीर बनाने के साधन इतर सात हैं –यह निरूपित करते हैं "खीर बनती है..." वचनसे. कोई चावलके बिना चीनीसे या चीनीके बिना घीसे या घीके बिना दूधसे या दूधके बिना पात्रसे या पात्रके बिना अग्निसे या अग्निके बिना पाचकसे खीर बनाना चाहे तो खीर बनायी नहीं जा सकती. अतः इन कारणसामग्रीके जुटनेपर ही खीर बनती है.

विमर्श : खीरके पूर्वोक्त सात साधनोंके साहित्यका दुराग्रह रखना उचित नहीं है, क्योंकि इनमेंके प्रत्येक भी साधन तो होते ही हैं. फिर किसी एकसे केवल खीर सिद्ध हो जानी चाहिये –ऐसी आपत्ति नहीं देनी चाहिये, क्योंकि वह तो सातोंके मिलनेपर ही होगी. एतावता प्रत्येकको साधन न मानना कैसे सुसंगत हो सकता है?

विशोधनिका : खीरकी कारणतासामग्रीके घटकतया सिद्ध चावल, चीनी, घी, दूध आदिकी परस्पर इतरसापेक्ष साधनतासे अतिरिक्त इतरनिरपेक्ष साधनताके प्रतिपादनका प्रयोजन खीर बनाना तो हो नहीं सकता. अतः अन्य कुछ प्रयोजन स्वीकारना पडेगा. अतः ऐसी साधनता अप्रासंगिक होनेसे अनिरूपणीय ही है.

दार्ष्टान्तमें विमर्शकार भी केवल तनुजा या केवल वित्तजा को मानसीसाधिका न मानकर केवल अबाधिका मनवाना चाहते हैं. वहां यह प्रश्न उठता है कि 'उक्तसेवासाधने'को उद्देश्य बनाकर द्वित्वविशिष्ट इतरत्वका विधान यहां विमर्शकारको अभिलषित है या 'इतरे'को उद्देश्य बनाकर उनकी 'उक्तसेवासाधनता'का विधान अभिलषित है. प्रथम कल्पमें प्रभुचरणकृतविवृतिस्थ "फलात्मकनामोक्त्या.. नत्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते" की व्याख्यामें "ननु 'मानसी सा परे'त्यनेन मानस्याः फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तदर्थत्वमेवैतत्सेवायाः सिध्यति अतो न स्वतो पुरुषार्थत्वं किन्त्वन्यशेषत्वमिति चेत्... प्रकृते तस्याएव सेवायाः अवस्थाभेदेन मानससेवारूपफलत्वेन विजातीयत्वाभावाद्" (श्रीवल्लभजीकृत टिप्पणी) वचनवशात् इतरता ही अनुपन्न है तो द्वित्वविशिष्ट इतरता भी सुतरां अनुपपन्न सिद्ध होगी. अतः 'इतरे'को उद्देश्य बनाकर उनके बारेमें 'उक्तसेवासाधनता'का यथोपदिष्ट विधान मानना पडेगा. यहां यह पृष्टव्य होता है कि विधास्यमान तनुवित्तजान्तर्भूत तनुजवित्तजाकी द्वित्वावच्छिन्नसाधनताका विधान अभिलषित है या तदनन्तर्भूत तनुजा एवं वित्तजा की एकैकत्वावच्छिन्नसाधनताका विधान अभिलषित है? प्रथम कल्पमें वदतोव्याघात दोष आ पडेगा. द्वितीय कल्पमें उत्थानिका और अभिप्रायज्ञापिका अंशोंमें "आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे"वाली निष्कर्षापर्यवसायिनी उत्थानिका होनेका दोष आ पड़ेगा.

केवल तनुजा या केवल वित्तजा कोई क्यों करना चाहता है? स्वकीय तनुविनियोग या स्वकीय वित्तविनियोग की अरुचि या असामर्थ्य के कारण उपदिष्ट तनुवित्तजास्वरूपपूर्त्यर्थ अथवा तदितरप्रयोजनपूर्त्यर्थ. यदि सेवेतर किसी भी प्रयोजनकी पूर्तिके लिये वित्तग्रहण किया जाता है तो वित्तदाता द्वारा किया जाता वित्तदान वित्तजा सेवा नहीं रह जायेगी, क्योंकि वित्त लेनेवाला दम्भ कर रहा है और देनेवाला अपना श्रद्धामौढ्यप्रदर्शन. यदि वह वित्त तनुवित्तजासेवाके स्वरूपनिर्वाहार्थ दिया-लिया जा रहा है ऐसा स्वीकारते हैं तो इस लेने-देनके लौकिक-अलौकिक, विहित-निषिद्ध एवं उत्सर्ग-अपवाद रूपोंके विवेकके बिना 'गोमय पायस' नहीं कर देना चाहिये.

एतदर्थ सर्वप्रथम एक सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :-

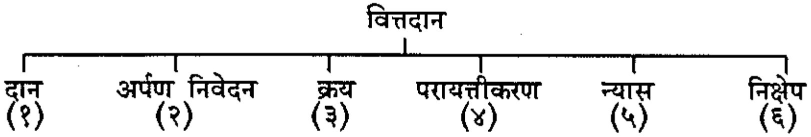
वित्तदान
दान (१)
अर्पण निवेदन (२)
क्रय (३)
परायत्तीकरण (४)
न्यास (५)
निक्षेप (६)

सहज सम्भव है कि इनके अलावा अन्य भी कुछ प्रकार वित्तदानके हो सकते होंगे परन्तु इन प्रभेदोंके लक्षण तथा उपभेदों को जाननेपर ही वास्तविकताका पता चला पायेगा.

(१) दान :

शास्त्रे निवेदनं दानं ह्यर्पणं त्रिविधं स्मृतम्।
निवेदनं समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम्॥
दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः।
अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्॥

(सि.र.श्रीपुरु.वि.श्लो.४में उद्धृत)

इन कारिकाओंमें निवेदन तथा अर्पणसे भिन्न "दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः" कहकर जो 'दान'की परिभाषा दी गई उस संदर्भमें यह अवधेय है कि –

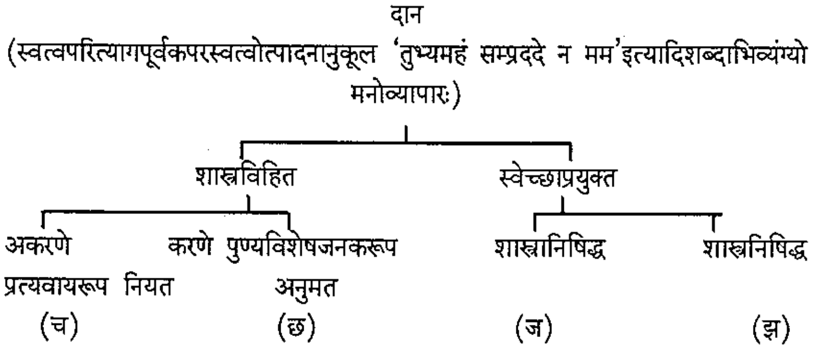
दान
(स्वत्वपरित्यागपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनानुकूल 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम'इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यो मनोव्यापारः)
शास्त्रविहित
स्वेच्छाप्रयुक्त
अकरणे प्रत्यवायरूप नियत
करणे पुण्यविशेषजनकरूप अनुमत
शास्त्रानिषिद्ध
शास्त्रनिषिद्ध
(च)
(छ)
(ज)
(झ)

(च) कर्मदक्षिणा, गुरुदक्षिणा, प्रायश्चित्तार्थ गोदानादि, कन्यादान, राज्यंको करदान आदि अनेक रूपोंमें शास्त्रविहित वित्तदान होता है.

(छ) तत्तद् देश-काल-कर्मादि निमित्तवशात् शास्त्रोंमें वित्तादि दानोंका वर्णन उपलब्ध होता है.

(ज) 'प्राभृत' = देवता-गुरु,राजा-मित्रादिको स्वेच्छया दिया जाता उपहार अर्थात् उपायन, 'यौतक' = यज्ञोपवीत, विवाहादि अवसरपर सगे संबंधि बटुक, वरवधू आदिको दिये जाते उपहार, 'सुदाय' = दहेज, 'दाय = अपनी संपत्तिपर अपनी जीवितावस्था या मरणोत्तरता में अंशतया या पूर्णतया स्वत्वत्यागपूर्वक अपने पुत्रादिके स्वत्वका

स्थापन, 'भिक्षा = दीन-दरिद्रोंपर दयाविवश दिया जानेवाला द्रव्यादि.

(झ) ज्येष्ठपुत्रदान, परद्रव्यदान आदि.

शास्त्रनिषिद्ध (स्वकुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते नान्वये सति सर्वस्वं देयं यच्चान्यसंश्रितम् –याज्ञ.व्यव.११।१७९) प्रकारको छोडकर दानके अन्य सभी प्रकारोंमें दाताद्वारा शास्त्राविरुद्धतया स्वत्वपरित्यागपूर्वक परस्वत्वोत्पादन किया गया होनेसे प्राप्त वित्त वित्तग्रहीताका ही होता है. सो ऐसे वित्तसे स्वयं की जाती सेवाके तनुवित्तजा सेवा होनेमें कोई विसंगति नहीं है.

वैसे वित्तदान सेवाकर्ताको अथवा उसके सेव्यस्वरूपको –यों दोनोंमेंसे किसी भी एकको सम्भव है. सेवाकर्ताको कोई कुछ देता है तो देनेवाला अपना स्वत्व खतम करके सेवाकर्ताका स्वत्व पैदा करता है और अन्यके सेव्यस्वरूपको देनेपर देनेवाला अपना स्वत्व खतम करके सेव्यस्वरूपका स्वत्व पैदा करता है. प्रथम कल्पमें तनुवित्तजाके स्वरूपका बाध नहीं होता जबकि दूसरेमें न केवल तनुवित्तजाका स्वरूप खंडित हो रहा है अपितु देवस्वापहरणदोष भी शक्य हो जाता है, देवस्वत्व पैदा हुआ होनेसे. इसे स्वीकार न करनेपर गोस्वामी महाराजोंको धरी भेट भेटकर्ता स्वयं भले ही न ले सके परन्तु इतर वैष्णव या महाराजश्रीका समाधानी या खवास क्यों नहीं ले सकते —यह खुलासा देना पडेगा. पूछनेकी आवश्यकता जैसे देवस्वापहारी महाराजोंको नहीं वैसे महाराजस्वापहारी वैष्णव या खवास को भी नहीं होनी चाहिये! जैसे महाराजोंका स्वत्व अपने प्रभुपर है ऐसे ही वैष्णव या समाधानी का महाराजोंपर होता. ठाकुरजी बोलते नहीं पर महाराज तो बोल सकते हैं अतः आज्ञाके बिना नहीं लेनेका नियम हो तो जो छोटे-छोटे बावा-बेटीजी बोल न पातें हो उनका तो कमसे कम लिया जा सकता है –ऐसे स्वीकारना चाहिये.

(२) निवेदनार्पण :

"निवेदनं तु तदीयत्वानुसंधानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुभ्यं समर्पयामि निवेदयामि' इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः".(श्रीपुरु.नव.विवृ.प्रका.१). अर्थात् जैसे देहादिविषयिणी आविद्यकी अहंता-ममताके त्याग करनेपर भी पांचभौतिक देह या उसपर स्वामित्व छूट नहीं जाता वैसे ही निवेदन और/अथवा समर्पण की प्रक्रियामें स्वस्वत्वके परित्याग बिना निवेदित और/अथवा समर्पित वस्तु या वित्त का अन्यार्थक विनियोग सम्भव है. इसमें विशेषतया अवधारणीय यही है कि —

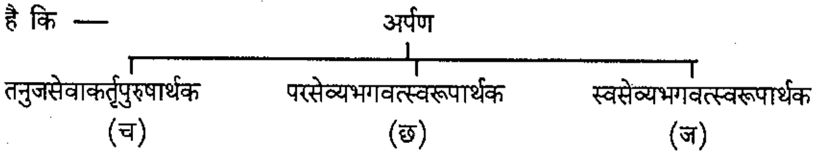
अर्पण
तनुजसेवाकर्तृपुरुषार्थक (च)
परसेव्यभगवत्स्वरूपार्थक (छ)
स्वसेव्यभगवत्स्वरूपार्थक (ज)

(च) इस कल्पमें वित्तदाताका स्वत्व निवृत्त नहीं हुआ होनेसे ऐसे वित्तके विनियोगपूर्वक स्वतनुद्वारा की गई भगवत्सेवा तनुवित्तजा नहीं कही जा सकती. परन्तु जिन संबंधोंमें वित्तराशिपर किन्हीं दो जनोंका अविभक्त स्वत्व हो –यथा मातापिता-सन्तति, पति-पत्नी, भ्रातृत्रयी, मित्रद्वयी या अन्य भी यथायथका सम्भूय समुत्थान हो (द्रष्ट. ''वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्'' नारदस्मृतिवचन –व्यवहारमयूख संभू.समु.प्रक.–''बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनं नरः करणं कारयेद् वापि सर्वैरेव कृतं भवेत्'' बृहस्पतिवचन–व्यवहारमयूख संभू.समु.प्रक.) तो किसी एकतरद्वारा अन्यतरको सेवार्थ द्रव्य देनेपर न तो देनेवालेका स्वत्व निवृत्त होता है न ही लेनेवालेके पूर्वसिद्धस्वत्वसे अधिक कोई स्वत्व पैदा ही होता है. अतः इन अपवादके उदाहरणोंके छलसे विभक्त स्वत्ववाले किसी एक व्यक्तिद्वारा अन्यको सेवार्थ अर्पित किये गये धनसे तनुजासेवा करनेपर तनुवित्तजासेवा सिद्ध हुई नहीं मानी जा सकती; जैसा कि विमर्शकार छल करना चाहते हैं, गुरुद्वारा शिष्यसे द्रव्य लेनेके संबंधमें. गुरु-शिष्योंकी सम्पत्ति यदि अविभक्त हो तो दोनोमेंसे किसी एकके पिताके दिवंगत होनेपर अन्यको दायभागी भी मानना पडेगा. जैसे गोस्वामि महाराजके नित्यलीलाप्रविष्ट होनेपर बहुजी-बालकोंकी तरह वैष्णवोंको भी उनके हिस्सेकी संपत्ति मिलनी चाहिये. किसी वैष्णवके भी गोलोकवासी होनेपर गोस्वामी महाराजोंको वहां दायभाग मिलना चाहिये. सम्भवतः ऐसी स्थितिमें जिनजिनका दायभाग गोस्वामि महाराजोंको मिलता है उनउनका सांवत्सरिक श्राद्ध भी उनका आवश्यक कर्तव्य हो जायेगा. एवं मृतपुरुषका न चुकाया हुआ ऋण भी चुकाना पडेगा : ''अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेद् दद्युस्तद् रिक्थिनः प्रेते'' (याज्ञ.स्मृ.व्यव.२।४८).

(छ) भगवत्स्वरूपार्थक निवेदित-समर्पित द्रव्यपरसे क्योंकि निवेदन-समर्पणकर्ताका स्वत्व निवृत्त नहीं होता अतः स्वसेव्यप्रभुकी सेवामें ऐसे परद्रव्यके विनियोगपूर्वक स्वयं तनुजासेवा करनेसे तनुवित्तजा सेवा सिद्ध हुई नहीं मानी जा सकती. स्वमार्गानुगामी अधिकांश वैष्णवजनोंको आज यह कह कर ही बरगलाया जा रहा है कि अपने यहां ''भिन्नमार्गपरं मतम्'' आज्ञानुरोधवश दान होता ही नहीं, अतः समर्पित द्रव्य-सामग्रीका प्रसाद लेनेमें दोष नहीं है. परन्तु उस स्थितिमें या तो गोस्वामिओंकी सम्पत्तिपर अनुगामि वैष्णवजनताका अविभक्त स्वत्व या अनुगामि वैष्णवजनताकी सम्पत्तिपर गोस्वामिओंका अविभक्त स्वत्व गलेपतित होगा. अन्यथा तनुवित्तजाके स्वरूपका बाध दुष्परिहार्य हो जाता है. अर्थात् इस आपत्तिसे बचनेके लिये यदि विभक्तस्वामित्ववाली सम्पत्तियां मानी जाती है तो तनुवित्तजाका स्वरूप ही घटित नहीं होता, जैसाकि किशोरीबाईकी वार्तामें है. और आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके सौभाग्यसे, अपने गुटके अन्य अपठित गोस्वामिओंसे विपरीत, क्योंकि विमर्शकारने

वार्तासाहित्यका प्रामाण्य स्वीकारा है अतः किशोरीबाईकी वार्ताके प्रामाण्यपर तो पराई सत्ताके द्रव्य अथवा सामग्री का अंगीकार ही पुष्टिप्रभु नहीं करते सो धरा गया भोग प्रसाद ही नहीं रह जाता है.

विमर्शकार एक गजबका छलावा यहां करना चाहते हैं कि ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''द्वारा प्रतिपिपादयिषित तो केवल मानसीकी साधिका कौनसी सेवा होती है और कौनसी नहीं होती है –यही है, जबकि पराये (अर्थात् अपारिवारिक या अशिष्य) व्यक्तिसे स्वसेव्यस्वरूपार्थ द्रव्य-सामग्रीके निषेधार्थ किशोरीबाईकी वार्ता है, अतः दोनोंकी प्रतिपाद्य विषयवस्तुमें अन्तर है. आजकी व्यावसायिक दुकानोंपर जैसे ग्राहककी धर्म-जाति नहीं पूछी जाती वैसे ही मंदिरोंमें भेटसामग्रीसंग्रहलोभविवश समाधानी दर्शनार्थी और मनोरथिओं की धर्म-जाति नहीं पूछते हैं. ऐसी स्थितिमें ऐसी सेवा पुष्टिमार्गीय कैसे हो सकती है? विमर्शकार छलावा करना चाहते हैं कि कोई पति पत्नीको भगवत्सेवार्थ जैसे द्रव्य देता है एतावता पति या पत्नी के द्वारा अनुष्ठित वित्तजा या तनुजा मानसीकी बाधिका नहीं बन जाती. ठीक इसी तरह गोस्वामी महाराजोंको धनिक वणिक् पुरुषोंद्वारा गोस्वामी महाराजोंके सेव्यस्वरूपार्थ द्रव्य या सामग्री देनेपर भी (अकर्मण्य स्त्रैणोपम तनुजैकसेवार्थविवश) महाराजों अथवा वणिकों की मानसीसेवामें कोई प्रतिबन्ध नहीं आता.

द्रव्यसंग्रहैकाभिनिविष्टमति होनेके कारण एक इतनी मोटी बात यहां या तो विमर्शकारको समझमें नहीं आ रही है या फिर जानबूझकर छलावा किया जा रहा है. पति-पत्नीके सेव्यस्वरूप समान हैं तथा पति-पत्नीका वित्त अविभक्तस्वत्ववाला है अतः पतिद्वारा पत्नीको सेवार्थ प्रदत्त वित्त केवल पतिके ही स्वत्ववाला नहीं अपितु पत्नीके भी स्वत्ववाला है. क्या ऐसा अविभक्तस्वत्व महाराजों और बनियाओं की विभक्त संपत्तिओंपर स्वीकारा जा सकता है? यदि हां तो एकदूसरेके ऋणी पिताके देहत्यागके पश्चात् एकदूसरेका एकदूसरेकी सम्पत्तिमें दायभागी होनेसे ऋण चुकानेका उत्तरदायित्व भी स्वीकारना पडेगा ही! ''रिक्थग्राहः ऋणं दद्याद्'' (याज्ञ.स्मृ.व्यव.२।४७).

(ज) इससे सिद्ध होता है कि स्वसेव्य-भगवत्स्वरूपार्थ निवेदित-समर्पित द्रव्य या सामग्री परसे क्योंकि निवेदन-समर्पणकर्ताका स्वत्व नष्ट नहीं होता अतः प्रकृतमें इसी एक कल्पमें तनुवित्तजा सेवाका स्वरूप अबाधित रहता है.

(३) क्रय :

क्रयमें विक्रेताके स्वत्ववाली क्रय्य वस्तु क्रेताको क्रेय लगती हो तो वह क्रय्य वस्तुके मूल्यवाले वित्तके विनिमयद्वारा स्ववित्तपर स्वस्वत्व खतम करके विक्रेताका स्वत्व प्रकट करता है. उसी तरह विक्रेता अपने स्वत्ववाली क्रय्य वस्तुपरसे

अपना स्वत्व खतम करके क्रेताका स्वत्व प्रकट करता है. फलतः द्रव्यका वस्त्वन्तरसे विनिमय होता है. अतएव विक्रीत वस्तुपर क्रेताका स्वत्व अबाधित होनेसे विक्रीत वस्तुका जब वह स्वयं भगवत्सेवामें विनियोग करता है तो तनुवित्तजाका बाध नहीं होता. "बह्व्यस्समांशतो देया दासानामप्ययं विधिः योगक्षेमवतो लाभः समत्वेन विभज्यते"(स्मृ.च.व्यव.अवि.प्रकट). पशु-भृत्य-दास-दासीकी भी क्योंकि विभाज्य वित्ततया गणना की जाती है अतः सेवोपयिक वस्तु या भृत्य गृहस्वामीके वित्तरूप होनेसे जैसे घरकी गायका दूध भगवानको भोग धरनेसे अथवा घरकी बैलगाडीमें प्रभुको कहीं पधरानेसे गाय या बैल की तनुजा मानी नहीं जाती तद्वत् गृहस्वामीके वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत भृत्य गृहस्वामीके वित्तान्तर्गणित होनेसे उनका भगवत्सेवामें विनियोग तनुवित्तजाका बाधक नहीं होता. यदि आचार्यवंशज गोस्वामी भी दर्शनार्थी धनिक वणिक जनोंके वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत दास हों तो इनकेद्वारा भगवत्सेवा करानेपर तनुवित्तजाका बाध नहीं होता. ऐसी स्थितिमें गोस्वामिओंके मंदिरोंकी वास्तविक स्वामी होगी दर्शनार्थी जनता. गोस्वामी बनेंगे वेतनक्रीत या मूल्यक्रीत दास. तब तो गोस्वामिओंके सेव्य भगवत्स्वरूपोंके उपर भी महास्वत्व गोस्वामिओंकी मालिक दर्शनार्थी जनताका सिद्ध हो जायेगा. उदाहरणतया तथाकथित षष्ठनिधिपर स्वत्वके दावेके आधारपर तथाख्यापित षष्ठपीठाधीशता भी दर्शनार्थी जनतामें निहित हो जायेगी! उस स्थितिमें चेतनवित्तरूप गोस्वामिओंका भी गोवृषभसदृश भगवत्सेवार्थ विनियोग अनुमत हो पायेगा. क्योंकि उस स्थितिमें गोस्वामिओंद्वारा स्वतनुस्वनुष्ठित भी भगवद्विषयिणी कृति गोवृषभकृतिन्यायेन न तनुजा और न वित्तजा सेवा ही रह जायेगी. गोस्वामी सभीके सभी बनियोंकी भगवत्सेवोपयिक सम्पत्ति बन जायेंगे!

अन्यथा सेवोपयिक वित्तद्वारा परिक्रीत सेवोपयिक सामग्री, चाहे चेतन हो या अचेतन, का स्वकीय भगवत्स्वरूपकी सेवामें विनियोग तनुवित्तजाका बाधक नहीं होगा. कर्ममार्गमें, परन्तु, ऋत्विजोंद्वारा अनुष्ठित कर्मका यजमान जैसे दक्षिणा प्रदानद्वारा परिक्रय करता है वैसे भक्तिमार्गीय भगवत्सेवारूप कर्मार्थ अन्यका पौरोहित्य स्वमार्गमें अविहित होनेसे अकर्तव्य ही होता है. यही बात श्रीपुरुषोत्तमजीने कही है: "नच यागो यजमानस्य वित्तदातुः फलतीति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्." (सि.मु.वि.प्र.२). आधुनिक पुष्टिमार्गिओंके दुर्भाग्यवश विमर्शकार (पृ.१५० पर)ने इसका भावानुवाद देकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान ली! फलितार्थका विचार ही नहीं किया!! उस फलितार्थकी भयंकरता विमर्शकारके विस्मयंकर मौनकी मुखर साक्षी है!!!

इससे सिद्ध होता है कि स्वयंके तनुसे अनुष्ठीयमाना भगवत्सेवामें स्ववित्तक्रीत चेतनाचेतन वस्तुओंपर स्वस्वत्व स्थापित हो जाता होनेसे उनका विनियोग तनुवित्तजा सेवाका बाधक नहीं होता. इस संदर्भमें यह वचन अनुसंधेय है: "गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः अनाकालभृतः तद्वद् आहितः स्वामिना च यः मोक्षितो महतश्चर्णाद् युद्धप्राप्तः पणे जितः तवाहमित्युपगतः प्रवृज्यावसितः कृतः भक्तदासश्च विज्ञेयः तथैव वडवाहृतः विक्रेता चात्मनः शास्त्रे पञ्चदशः स्मृताः"(मिता.२।१८२). इसमें सिद्ध होता है कि परिक्रीत-दायादुपागतादि वित्तभेदसदृश दासोंके भी प्रभेद मान्य होते थे अतएव दास वित्तान्तर्गणित वित्तोपम उनका विनियोग तनुवित्तजाके स्वरूपका बाधक नहीं होता.

(४) परायत्तीकरण :

'परायत्तीकरण'का अर्थ न्यायकोशकारने यों दिया है: "तत्कर्तृकनिर्णेजनेच्छाप्रकाशको व्यापारः यथा 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इत्यादौ 'ददाति' अर्थः. 'निर्णेजनं' च मलापकर्षः" (न्या.को.दान.२). वैसे यह एक हकीकत है कि प्रायः धर्मवैतंसिक धनिक लोग अपनी कमाईका मलापकर्षण सार्वजनिक मंदिरोंमें प.भ.मनोरथी बनकर करवा लेते हैं. फिर भी परायत्तीकरणको इतने सीमित अर्थोंमें न लेकर आभूषणनिर्माणार्थ स्वर्णकारके स्वरूपानुरोधवश गुणाधानार्थ भी स्वकीय वस्तु या द्रव्यको परायत्त बनाया जा सकता है. इन सभी उदाहरणोंमें, परन्तु, स्वत्वनिवृत्ति की नहीं जाती अतः परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वरा प्रदत्त वित्तसे भगवत्सेवा करनेपर तनुवित्तजाका स्वरूप खंडित होता ही है, वित्तदाताका वित्तके उपरसे स्वत्व निवृत्त नहीं हुआ होनेसे. यह वित्तनिष्ठ अनिवेदितत्व-असमर्पितत्वरूप मलके अपकर्षणार्थ रजकोपम गोस्वामिहस्तमें परायत्तीकरण स्वीकारा जाये अथवा निवेदितत्व-समर्पितत्वरूप गुणातिशयके आधानार्थ स्वर्णकारोपम गोस्वामिहस्तमें परायत्तीकरण स्वीकारा जाये, परिस्थितिमें कोई अन्तर नहीं पडता!

वैसे गुरुके मनोभिलषितकी पूर्तिके लिये गुरुके सेव्य भगवत्स्वरूपके सन्मुख दर्शनार्थी जनता अपनी भेट-सामग्री भगवदायत्त करती है –ऐसी क्लिष्टकल्पना करनेपर भी वित्तदाताने क्योंकि अपने वित्तपरसे स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक गुरुस्वत्वापादन नहीं किया है एतावता श्रीपुरुषोत्तमजीके स्ववृत्तिवादस्थ "तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं चैतद्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु –एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः." वचनानुरोधवश अगौरवमयी परद्रव्योपजीविनी वृत्तिके अपराधवश ऋणित्वेन बंधप्रसंग तो वज्रलेपायित ही है. स्वयं बद्धतैकरुचि अन्यका उद्धार क्या करेगा! "आजीवन् स्वेच्छया दण्ड्यो दाप्यस्तच्चापि सोदयं याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपेष्वप्ययं विधिः" (याज्ञ.स्मृ.व्यव.३।६९) की व्याख्यामें यहां स्पष्टतया कहा गया है कि 'याचित' = किसी छोटे-मोटे कामके लिये मांगी

गई कोई वस्तु. ‘अन्वाहित’ = किसी आर्थिक कष्टमें फंसे हुए व्यक्तिद्वारा गिरवी रखी हुई वस्तु; अथवा किसी वस्तुके प्रतिग्रहप्रसंगमें केवल प्रतिग्रहीतनयनार्थ ही उपकरणत्वेन प्रदत्त अन्यथा अप्रदत्त वस्तु. ‘न्यास’ = किसी निर्दिष्ट स्वरूपवाली वस्तु जो केवल रक्षणार्थ सौंपी गई हो. ‘निक्षेप’ = किसी एक व्यक्तिद्वारा किसी दूसरेको देनेके लिये तीसरेके हाथोंमें सौंपी गई वस्तु. इनसे जो अपनी आजीविका चलाता हो तो शासकका कर्तव्य है कि ऐसे व्यक्तिको दण्डित करके उसके पाससे द्रव्य या वस्तु खौंसकर सच्चे मालिकको लौटा दे.

इससे सिद्ध होता है कि परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा लब्ध वित्त प्रतिदेय होनेसे तनुवित्तजाका स्वरूपसाधक नहीं है.

अतएव शास्त्रमें कहा गया है–

“वर्तते यस्य यद् हस्ते तस्य स्वामी स एव न।
अन्यस्वमन्यहस्तेषु चौर्याद्यैः किं न वर्तते?॥
तस्माच्छास्त्रतएव स्यात् स्वाम्यं नानुभवादपि।
नच स्वमुच्यते तद्वत् स्वेच्छया विनियुज्यते॥
विनियोगोपि सर्वस्य शास्त्रेणैव नियम्यते।”

(स्मृतिचन्द्रिका व्यव.कां.पृ.६००-६०१)

कहां धर्मशास्त्रोंका यह उदात्त आदर्श और कहां विमर्शकारका अधोलिखित कैतव –

(ट) “गुरुकी आज्ञा प्राप्त होनेपर गुरुघरमें जब वैष्णव गुरुघरके ठाकुरजीका दर्शन करते हैं तब...**उपायनद्रव्यका अर्पण –ये दोनों गुरुकी आज्ञाके पालनके रूपमें होनेसे गुरुसन्तोषजनकक्रियात्मक होनेसे गुरुसेवाके अन्तर्गत ही हैं, गुरुसेवाके बहिर्भूत नहीं.** गुरुघरके ठाकुरजीके लिये वैष्णवोंद्वारा गुरुको अर्पण किये जानेवाले द्रव्यपर स्वत्व नहीं रहता और **न तो ठाकुरजीका ही स्वत्व रहता** है.इस विषयमें सबसे दृढ प्रमाण यह है कि गुरुघरमें ऐसे द्रव्यको पृथक् रखनेकी व्यवस्था नहीं रही न है.” (विमर्श पृ.१३८)

(ठ) “गुरुका पूर्णस्वत्व स्थापित होनेपर देवद्रव्यभक्षण किंवा देवद्रव्यग्रहण का प्रसंग नहीं है. जहांपर गुरुका पूर्णस्वत्व स्थापित न होता हो वहांपर मनोरथसंपादनके लिये प्राप्तद्रव्यका भगवत्सेवामें विनियोग होनेपर महाप्रसादग्रहणमें कोई दोष नहीं. परन्तु यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मनोरथसंपादनके लिये प्राप्तद्रव्य **ठाकुरजीका उपानयनद्रव्य न हो, तथा ठाकुरजीको ‘तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम’ कहकर दान किया न हो.**” (विमर्श पृ.१४०)

(ट)वचनमें देवार्थ उपायनपर गुरुका निर्हेतुकस्वत्व मान लिया गया है. (ठ)वचनमें उपायन न हो तो देवद्रव्य नहीं होता ऐसा कहा जा रहा है.

पृ.१४६पर श्रीमहाप्रभुने क्यों नहीं सोनेकी कटोरी गिरवी धरनेपर प्रसाद लिया उसका श्रुतकारण –“जो कटोरी धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आपहीके द्रव्यको आपही आरोगे सो आपहीको भयो. जो श्रीठाकोरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहि अरु मेरो सेवक भगवदीय (क्योंकि आधुनिक गोस्वामी तो भगवदीय नहीं होते, स्वयं पुरुषोत्तम होते हैं) होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो.”– छोडकर प्रकृतमें सर्वथा अश्रुतकारणकी कल्पना कि “दाने हि न स्वविनियोगः”नियमवशात् आपने प्रसाद न लिया और श्रीमहाप्रभुके दुःखी होनेसे दुःखित वैष्णवोंने भी नहीं लिया! इसी तरह जहां न्यासप्रलेखद्वारा गुरुने स्वत्व निवृत्त कर दिया हो वहां निवृत्ति अज्ञानकृत एवं बलकृत होनेसे स्वत्व अनिवृत्त ही रहता है. स्पष्ट है कि यह अज्ञान पैसा कैसे कमाना उसका नहीं है क्योंकि उसके तो अनेकानेक उपायोंके आधुनिकगुरु महाविज्ञ होते हैं. अज्ञान केवल सिद्धान्तका होता है और निर्बलता अर्थोपार्जनार्थ मिथ्याप्रलेख कर स्वात्मा,स्वानुगामी तथा स्वदेशशासनको छलनेमें नहीं परन्तु केवल अपनी शुद्ध चरणभेटपर यदृच्छालाभसंतुष्ट होनेकी निर्बलता विवक्षित है. अन्यथा अज्ञानी अस्वधर्मपरायण अर्थैकाभिनिवेशी और गुरु तो तमःप्रकाशवान् होने जैसी विरुद्धधर्माश्रयी पुरुषोत्तमता ही हो सकती. अपना तो भागवतमूलक प्रोज्झितकैतव धर्म (!) है न? अस्तु. भगवदिच्छैव बलीयसी सर्वोद्धारविरोधिनी!

अतः परायत्तीकरणकी प्रक्रियाद्वारा प्राप्तद्रव्यसे न तो तनुवित्तजा संपन्न हो सकती है और न स्वोपभोग और न किसी दूसरे कीर्तनियाजीके सदृशको दान ही.

वैसे यदि गुरुको ही उद्देश्य बना कर दिये जानेवाले वित्तदानको गुरुके सेव्य भगवत्स्वरूपके सन्मुख परायत्त किया जा रहा है –ऐसी अद्ययावत् किसी भी दर्शनार्थी वित्तदाताके मनोव्यापारकी अविषयीभूता कल्पना भी “तुष्यतु दुर्जन”न्यायेन करते हैं, तब भी स्वयं मेरे पास सुरतकी हवेली तथा यहां श्रीयदुनाथजीकी हवेलीकी रसीद एक व्यक्तिने दोनों मंदिरोंके समाधानीके आवाजकी केसेट रेकोर्डके साथ सौंपी है, जिनमें यहां बंबईमें गुरुभेटके अलावा श्रीठाकुरजीकी भेट-सामग्रीकी अलग अलग रसीदें हैं जो इस बातका प्रमाण है कि गुरुसेवान्तर्गत श्रीठाकुरजीकी भेट-सामग्री नहीं ली जा रही. सुरतके समाधानीने केसेटमें यह कहा है कि महाराजश्रीको भेट धरनी हो तो उपर जाओ, यहां तो श्रीठाकुरजीकी ही भेट-सामग्रीके रुपये लिये जाते हैं. पर श्रीठाकुरजीकी किस सेवाके लिये ले रहे हैं –ये लिखके नहीं देंगे क्योंकि कानूनी लफडे हो जाते हैं. अस्तु.

वैसे इस सारे कैतवका घटस्फोट श्रीपुरुषोत्तमजीकी यह पंक्ति कर देती

है : “दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः ‘तुभ्यमहं संप्रददे न मम’इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यो (न तु शब्दोच्चारनैयत्यरूपो, अन्यथा समर्पणेपि तादृशशब्दोच्चाराभावे समर्पणाभावप्रसक्तेः दुरुद्धरत्वात् –गो.श्या.म.) मनोव्यापारः (न तु वाग्व्यापारः –गो.श्या.म.) तस्मिन् कृते सति ‘हि’ निश्चयेन ‘न स्वविनियोगः’ दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात्. निवेदनं तु तदीयत्वानुसंधानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः ‘तुभ्यमहं समर्पयामि· निवेदयामि’ इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः. तस्मिन् कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय, दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात्. तत्र गमकमाहुः ‘अन्यथे’त्यादि. यदि स्वत्वत्यागपरस्वोत्पत्त्यानुकूल्ययोः दाने निवेदने च तु तुल्यतायामपि कश्चिद् विशेषो न स्याद् तदा पुराणेषु अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् निवेदितान्नादेः भोजनं नोक्तं स्यात्.” (नव.विवृ.प्रका.१). इस विमर्शकैतवकी धर्मवत्सलता(!)का यह मुखर प्रमाण है कि दान-निवेदन दोनोंमें ही विमर्शकार भगवद्विनियोगानन्तर उपभोगको प्रशस्त मान रहे हैं. ऐसे ही ‘न स्वनियोगः’ और ‘न विनियोगः’का महान विमर्शाडम्बर भी एकत्र दत्तापहारदोषोत्पत्ति अपरत्र दत्तापहारदोषानुत्पत्ति के वैलक्षण्यसे स्वतः प्रत्याख्यात हो जाता है. क्योंकि यहां स्व-परोपभोगके स्वकृत या परकृत उभयत्र ही समानभावसे प्रवृत्त एवं निवृत्त होता है. शब्दोच्चारके कर्माडंबरनियतिकी हास्यास्पद कल्पना तो केवल बाललीला ही है!

(५) न्यास :

“राजचौरभयाद् दायादानाञ्च वञ्चनात् स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासः तत्परिकीर्तितम्” (द्र.बृहस्पतिवचन – स्मृ.चन्द्रि.निक्षे.स्था.) वचनानुसार यह स्पष्ट है कि न्यासी वित्तदाता अपने स्वत्वकी सुरक्षाके लिये किसी दूसरेको जब वित्त देता है-सौंपता है, तब वित्तपरसे उसका स्वत्व निवृत्त नहीं होता. अतः ऐसे वित्तका भगवत्सेवामें विनियोग मानसीसाधिका तनुवित्तजाके स्वरूपका नाशक होनेसे तथा परद्रव्यापहरणके दोषका भी जनक होनेसे यह कल्प तो प्रकृतविचारोपयोगी नहीं है.

फिर भी धर्मशास्त्रामूलक आधुनिक कराधान कानूनोंसे अपनी सेवोपयोगिसम्पत्तिकी सुरक्षा करनेको बनाये गये सार्वजनिक ट्रस्टडीड कि जिसमें ट्रस्टनिर्माता गोस्वामी स्वयं प्रलेख कर देते हैं कि सेवास्थल उनका निजी गृह नहीं –सार्वजनिक देवालय है –सेवोपयिक वित्त कराधानार्ह नहीं क्योंकि उनका नहीं प्रत्युत जनताका जनताके प्रतिनिधि ट्रस्टिओंके सहयोगसे संचालित भगवत्स्वामिक वित्तसे अनुष्ठीयमाना सेवार्थ है इत्यादि-इत्यादि. ऐसे सब मिथ्या प्रलेख अज्ञानवश या प्रशासनभयवश निर्मित हुए होनेसे उनके वास्तविक स्वरूपके बाधक नहीं होते. इस सन्दर्भमें विमर्शकारके द्वारा किया गया कुशकाशावलम्बन जितना अविचारितरमणीय है वह विमर्शवक्तव्यके समान अन्य वक्तव्यको बिम्बप्रतिबिम्बभावसे देखनेपर पता चलेगा.

विमर्शबिम्ब

जो लोग समझते हैं कि बंद कमरेमें भगवत्सेवा करना ही भगवत्सेवा है वे स्वयं भ्रममें हैं. क्योंकि बंद कमरेमें जो भगवत्सेवा होती है वह न्यायालयकी परिभाषामें सदा गृहसेवा ही रहेगी –इस बातकी कोई शाश्वती नहीं है...मान लीजिये कि कल ऐसा नियम बना कि “भगवत्सेवा जहां होती हो वह स्थल सार्वजनिक होता है.” फिर भगवत्सेवा बंद कमरेमें हो या बंद कमरेमें न हो, वहां दर्शनार्थ लोग आये या न आये वह सेवा सार्वजनिक ही है. तब क्या करना? (विमर्श पृ.१८२).

...देवदर्शनके लिये लोगोंके आने मात्रसे स्थल सार्वजनिक नहीं हो जाता. सार्वजनिक स्थल एवं गृहकी परिभाषा धर्मशास्त्रानुसार ग्राह्य है न कि अधार्मिक न्यायालयीय निर्णयानुसार (परिभाषा) ग्राह्य है. अतः सम्प्रदायमें आज भी तत्तत् स्थलोंमें होनेवाली सेवा गृहसेवा ही है, सार्वजनिक नहीं. जिन स्थलोंमें आपत्तिकालीन व्यवस्थाके रूपमें भगवत्सेवोपयुक्त सम्पत्तिके रक्षणार्थ ट्रस्टका बाह्य स्वरूपमात्र दिया गया तथा मनसे ट्रस्ट न बनाया गया हो वहांकी सेवा गृहसेवा नहीं –ऐसा भी नहीं कहा जा सकता. जिन स्थलोंमें अज्ञानसे या बलजबरीसे ट्रस्ट

विशोधनप्रतिबिम्ब

जो पति समझते हैं कि बंद कमरेमें पत्नीका पुरे रहना. पत्नीके शीलकी सुरक्षा है...वे स्वयं भ्रममें हैं क्योंकि बंद कमरेमें जो पत्नियां पुरी रहती हैं वहां लंपट बलात्कारी गुंडे कभी पहोंच कहीं पायेंगे –इस बातकी कोई शाश्वती नहीं है...मान लीजिये कि कल ऐसे लंपट बलात्कारी गुंडे ऐसी दुर्भावना बांध ले कि बंद कमरोंमें पुरी रहनेवाली किसी भी सुशील पत्नीके शीलको भ्रष्ट ही करना तो फिर कोई पत्नी बंद कमरेमें पुरी रहती हो या न हो, उसके घरमें वह लंपट बलात्कारी गुंडोंको घुसने दे या न दे, उसका शील तो लंपट बलात्कारी· भ्रष्ट करेंगे ही. (एक स्वैरिणीकी डायरीके पृ.१८२ पर).

...लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपने घरमें आनेमात्र देनेमें किसी सुशील गृहवधूको दुःशीला नहीं माना जा सकता.सुशीलता एवं दुःशीलता की परिभाषा धर्मशास्त्रानुसार ग्राह्य है न कि शंकाशील पतिकी कल्पित परिभाषाके अनुसार. अतः पासपडौसमें आज भी जिन गृहिणिओंके पास लंपट बलात्कारी गुंडोंका आना-जाना बना हुआ है उन सभीको सुशील गृहवधू ही समझना चाहिये,वारवधू नहीं. जहां कहीं आपत्तिकालमें किसी गृहवधूको लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपना तन बाह्यरूपसे मात्र समर्पित करना पडा परन्तु मनसे लंपट बलात्कारी गुंडोंको अपना तन समर्पित न किया हो उन्हें भी वे सुशील गृहवधू नहीं –ऐसा भी कहा नहीं जा

बनाये गये हों वहांके ट्रस्टका तो कोई अस्तित्व ही नहीं. अतः ऐसे स्थलमें होनेवाली सेवा गृहसेवा नहीं –ऐसे भी कहा नहीं जा सकता है.(विमर्श पृ.१८३)	जा सकता. जिस गृहवधूका पातिव्रत्यधर्मके अज्ञानवश या [१]बलजबरीसे शीलभ्रष्ट किया गया हो वहां तो चरित्रभ्रष्टताका कोई प्रसंग ही नहीं है. अतः ऐसी सभी गृहवधू परमसुशील पातिव्रत्य-धर्मपरायणा नहीं –ऐसे भी कहा नहीं जा सकता है. (एक स्वैरिणीकी डायरीके पृ.१८३ पर)

[१] "बलाद् दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद् यच्चापि लेखितम् सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत्" (मनुस्मृ.८।१६८).

वैसे मयूखकार स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि "(दायनिर्णयोपयोगिस्वत्वं) तच्च क्रयप्रतिग्रहादिजन्यशक्तिविशेषः. तत्कारणता तु लोकव्यवहारादेव गम्यते, न शास्त्रात्. तदनभिज्ञानामपि तद्दर्शनाद् इति तल्लोकसिद्धकारणानुवादकं स्वामित्वध्वंसमात्रेण यत्स्वस्य भवति तस्मिन् रिक्थमिति प्रयुञ्जते लोकः."(व्यवहारमयूख.स्वत्वनिरूपणम्).

यदि धर्माचार्य स्वयं न्यासप्रलेख करता है – न्यासप्रलेखानुसार स्वयं आचरण करता है तथा अन्योंको भी वैसा ही उपदेश देता है तो ३-४ पीढीमें उसका शिष्टाचारप्रामाण्य भी सिद्ध हो ही जायेगा, जो विमर्शकारका विचारसर्वस्व है. जबकि धर्मशास्त्रके अनुसार कोई धार्मिक प्रशासक निर्णय भी लेने जायेगा तब "प्रमाणं [१]लिखितं [२]भुक्तिः [३]साक्षिणश्चेति कीर्तितम्" (याज्ञ.स्मृ.व्यव.१।२२) वचनानुसार [१]न्यासप्रलेखपत्र तदनुसार [२]जनसाधारणद्वारा उस स्थलका धार्मिक उपभोग और [३]साक्षि –तीनों ही मिल जायेंगे. तब धर्मतः क्या न्याय्य था और क्या अन्याय्य कैसे पता चलेगा? क्योंकि धार्मिक प्रशासक भी धर्मशास्त्रानुसार ही न्याय देगा. यथा–

"पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी॥"

तो जहां पचीस-पचीस वर्षोंसे सार्वजनिक अर्थात् सर्वजनस्वामित्वके विरुद्ध अर्थलोलुप-स्त्रैण-कापुरुष भीरु बनकर आवाज न उठाई जाये और बादमें ऐसे अधर्मका समर्थन खुदपर हुए अत्याचारके बहानेके द्वारा किया जाये कि "सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत" तो वह धर्मनिर्णय होगा कैसे?

क्यों मनुके–"नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा। न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः(मनुस्मृ.४।१५)" वचनानुसार अपनी चरणभेटसे सन्तुष्ट रह कर अपने सेव्यप्रभुपर अपना कानूनी स्वत्व रखनेकी विशुद्ध भावना नहीं है? क्यों सेवोपयोगि सम्पत्तिकी सुरक्षाके लिये सेव्यपरसे कानूनी दावा निरस्त हो जाये इस हद तककी

अर्थाभिनिवेशिता रखी जाती है? क्या कोई पति, अपनी सर्वाभरणभूषिता पत्नीका अपहरण कोई गुंडे अर्थ-कामवासनापूर्त्यर्थ कर रहे हों तो, "पत्नीको चाहे ले जाओ परन्तु उसे सुख पहुंचानेवाले आभूषणोंको छोड दोगे तो यह स्त्री मेरी पत्नी नहीं तुम्हारी है" –ऐसा प्रलेख करेगा? यदि नहीं तो स्वसेव्य प्रभुस्वरूपसे अधिक क्या सेवोपयोगी सम्पत्ति हो सकती है? यह कैसा कैतवजाल फैलाया जा रहा है! इसके दुष्परिणाम क्या होंगें यह कभी स्वार्थान्ध्यको त्याग करके हमें विचारना है कि नहीं?

अतः विमर्शकैतव धर्मार्थ नहीं परन्तु धनार्थ है यह सुस्पष्ट है. अन्यथा पुत्रोपम शिष्योंकी कहीं बहुजीओंपर कुदृष्टि न पडे अतः अपनी बहुजीओंको गोस्वामिगण जनानेमें=परदेमें रखते हैं! अपने ठाकुरजीका गाममें प्रदर्शन वह धर्मानुमोदित है या नहीं –के विचारको भूलकर भी देखें तो कुछ और ही बात समझमें आती है. जनताके लिये जनताके द्रव्यसे चलते मंदिर सार्वजनिक ही होते हैं ऐसे कानूनोंके रहते हुए भी अपने सेव्य भगवत्स्वरूपकी रक्षाके लिये व्यग्र होनेके बजाय जनताके लिये जनताके द्रव्यसे जनताके स्वत्वका न्यासप्रलेख भी करनेकी वकालत करते आज हम लज्जित नहीं होते –यह आश्चर्यकी बात है! प्रतीत होता है हमारी परम आराध्य जनता है और जनार्दन तो केवल जनाराधनार्थ एक वृत्त्युपाय!

(६) निक्षेप :

निक्षेपकी परिभाषा याज्ञवल्क्यस्मृतिके व्यवहाराध्यायके उपनिधिप्रकरणमें ६९वें श्लोककी व्याख्यामें, "निक्षेपो अन्यहस्तएव यद् अन्यस्मै देयत्वेन निक्षिप्तम्" कहकर दी है. परन्तु व्यवहारमयूखने नारदोक्त "स्वद्रव्यं यत्र विश्रंभान्निक्षिपत्यविशंकितो निक्षेपं नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः, असङ्ख्यातमविज्ञातममुद्रं यन्निधीयते तं जानीयाद् उपनिधिं निक्षेपं गणिकं विदुः" वचन देकर "यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते तावुभौ चौरवत् शास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्" मनूक्त वचनद्वारा निक्षेपापहारीको चौरवद् दण्डनीय भी माना है. अतः अन्यार्थनिक्षेप अथवा स्वार्थनिक्षेप –यों दो प्रभेद भी उनके मान लें तो अन्यार्थ निक्षिप्त तत्स्वामिक बन जाता है; जहां निक्षेपदाता या निक्षेपग्रहीता के स्वामित्वका कोई प्रसंग नहीं. स्वार्थ निक्षेपमें निक्षेपदाताने अपना स्वत्वत्याग नहीं किया होता है. अतः ऐसे निक्षिप्त वित्तका भगवदर्थ विनियोग तनुवित्तजाके स्वरूपका तो विघातक होता ही है. अन्तर इसमें केवल यही है कि अपवादरूपेण भगवदर्थ निक्षिप्त वित्तसे भी आपत्तिकालमें अपवादरूपेण भगवत्सेवाका अनुष्ठान संभव है. विमर्शकारद्वारा, परन्तु, 'गोमयपायस'न्यायेन प्रस्तावित "भगवदुपभोगात्प्राक् देवद्रव्यत्वेन अनुपभोगार्हता तथा भगवदुपभोगानन्तर भगवत्प्रसादत्वेन उपभोगार्हता" व्यवस्था तो शुद्ध अकाण्डताण्डव है. क्योंकि उस

स्थितिमें निवेदन-समर्पण और दान(अपने समस्त अवान्तर उपभेदों सहित)के बीच कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा. फिर तो श्रीमहाप्रभुद्वारा उसे ‘‘दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्’’ (सि.र.६) कहना और ‘‘असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद्’’ (सि.र.४) कहना सर्वथा निष्प्रयोजन कथन सिद्ध होगा क्योंकि समर्पणानन्तर अर्थात् भगवदुपभोगानन्तर दत्त निक्षिप्त उपाहृत उपायनीकृतका अन्तर पूजा तथा भक्तिके मार्गभेदवश नहीं परन्तु भगवदुपभोगवश तथा भगवदनुपभोगवश ही सारी बातोंका समाधान हो जाता है.

भगवदर्थ निक्षिप्त भेट-सामग्रीपर जो गोस्वामिओंका निरंकुश स्वत्व हो, जैसा कि आभास विमर्शकार पैदा करना चाहते हैं, तो आगामी संस्करणोंमें घरुवार्ताका सोनाकी कटोरीवाला प्रसंग, चौरासी वैष्णववार्ताके अन्तर्गत संतदासकी वार्ता, २५२ वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत किशोरीबाईकी वार्ता, आशकरणदासकी वार्ता प्रसंगोंको मनस्वी संशोधन-परिवर्धन-परिवर्तनके साथ प्रकाशित करवाना पडेगा. जैसे २५२ वैष्णवोंकी वार्ताकी किसी भी प्रतिमें सातस्वरूपान्तर्गत स्वसेव्य श्रीबाकृष्णलालजीका नाम न होनेपर भी कुछ वर्ष पहले संशोधित-परिवर्धित संस्करण प्रकाशित करवा दिया था! (इस षष्ठनिधिप्रयुक्त षष्ठपीठाधीशतावादका विस्तृत विचार ‘‘पुष्टिमार्गीय पीठाधीश : स्वरूप और कर्तव्य’’ नाम्ना प्रकाशित ग्रंथमें श्रुतिप्रकरणके प्रकाशनके बाद अब स्मृतिप्रकरण-सदाचारप्रकरण का विचार क्रीडाक्रीडनकक्रीडाविभंगके परिशिष्टतया आगामी परिच्छेदोंमें किया जायेगा.).

प्रकृतमें अवधेय यही है कि स्वत्वकी प्रामाणिक परिभाषा क्या होंनी चाहिये – इसपर शास्त्रकारोंके प्रस्थानभेद दृष्टिगोचर होते हैं :

स्वत्वम्— **(क)** यथेष्ट विनियोगयोग्यता – ऐसा प्राचीनोंका कहना है. जैसे ‘‘चैत्रका धन’’कहनेपर धनपर चैत्रनिरूपित स्वत्वका निरूपण हो रहा है. यथेष्ट विनियोगयोग्यता शास्त्रतः अनिषिद्ध विनियोगयोग्यता, जो क्रय प्रतिग्रह आदि हम करते हैं, उसका विषय (अर्थात् क्रीत या प्रतिग्रहीत) होना है. यह बहिरिन्द्रियवेद्य गुण नहीं होता क्योंकि प्रतिग्रहादि मानसज्ञानविशेषरूप होते हैं अतः बहिरिन्द्रियग्रहणयोग्य नहीं होते.

यहां कुछ विविध प्रस्थान दिखलाई देते हैं यथा ‘स्वत्व’ वस्तुनिष्ठ गुणधर्म है या अलोकिक गुणधर्म? स्वत्व शास्त्रैकसमधिगम्य होनेसे वस्तुनिष्ठ है – ऐसा जीमूतवाहनादिका पक्ष है. लोकप्रसिद्ध होनेके कारण लौकिक गुणधर्म ही है – ऐसा विज्ञानेश्वरमित्र मिश्र आदिका पक्ष मिताक्षरावीरमित्रोदयमें निरूपित हुआ है...

(ख) ‘स्वत्व’ क्रय-विक्रय क्रियाओंमें किसी भी द्रव्यका यथेष्ट विनियोजक धर्मविशेषरूप होता है. इसे यथेष्टविनियोगयोग्यतारूप केवल नहीं माना जा सकता – ऐसा दीधितिकार आदिका नवीन पक्ष है. यह स्वत्व दानादिसे नष्ट होता है तथा प्रतिग्रहादिसे जन्य होता है. प्रतिग्रहादि क्रियाओंके नाशके बाद भी स्वत्वव्यवहार होता होनेसे दानसे स्वत्व नष्ट होता है तथा प्रतिग्रहादिसे उत्पन्न होता है. अतएव भाविवस्तुपर स्वत्व सम्भव है.अन्यथा प्रतिमास प्रतिवर्ष देयत्वेन प्रतिश्रुत धान्यादि भावि पदार्थ हैं वहां स्वत्व उत्पन्न हो नहीं पायेगा. कुछ लोग ‘‘मैं अपने स्वत्ववाले घरको देख रहा हूं’’ अनुव्यवसायके आधारपर इसे प्रत्यक्षगम्य मानते हैं और कुछ लोग अनुमानगम्य. (न्यायकोश : ‘स्वत्वम्’).

कुल मिलाकर बात इतनी इस विवेचनाके आधारपर समझी जा सकती है— धर्मोपयिक अलौकिक स्वत्व धर्मशास्त्रसिद्ध ही होता है लोकसिद्ध नहीं तथा शास्त्रतः अनिषिद्ध लौकिक व्यवहारोपयिक स्वत्व लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान या ऐतिह्य आदिसे सिद्ध होता है. यथा धर्मपत्नीत्व धर्मपुत्रत्व धर्मोपयोगिशुद्धि धर्मशास्त्रसिद्ध विवाहसंस्कार दत्तकविधि मार्जनादिशुद्धिविधि द्वारा होती है तथा लौकिकभार्यात्व लौकिकक्रीतपुत्रत्व लौकिकशुद्धि लौकिकप्रमाणोंसे गम्य होती है. शास्त्रतः अनिषिद्ध लोकव्यवहारका औचित्य अथवा अनौचित्य लौकिक प्रमाणोंसे ही सिद्ध होता है.अतएव षष्ठनिधित्वमूलक षष्ठपीठाधीशत्वसिद्धिके लिये लौकिक न्यायालयोंकी शरणमें जानेको अपने अनुयायिओंको प्रेरित करना पडा था, जब बडौदामें गो.श्रीद्वारकेशजीकी षष्ठपीठाधीशतया तिलकविधि हुई थी.

अतः लोकमें अन्यार्थ निक्षिप्त भेट-सामग्रीपर गोस्वामिओंका अकारण निरंकुश स्वत्व स्वीकार लेना न शास्त्रसिद्ध है और न लोकसिद्ध है. ऐसी स्थितिमें विमर्शकारका यह कथन कि गोस्वामिओंके घरमें उनकी आज्ञासे उनके ठाकुरजीके लिये उपायन गुरुसेवाके अन्तर्भूत होता है – केवल छल है. क्योंकि (१) स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका यह परिग्रह है या (२) भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रह ?

(१) यदि स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका परिग्रह हो तो जैसे स्वनिमित्तक स्वकन्यासंप्रदानक स्वबन्धुबान्धवकर्तृक उपायनपर स्वयं पिताका नहीं परन्तु कन्याका स्वत्व उत्पन्न होगा जिसका उपभोग करनेपर कन्याद्रव्यापहारी पिता बनता है. वैसे ही गोस्वामीका स्वत्व नहीं परन्तु श्रीठाकुरजीका ही स्वत्व उत्पन्न होगा. गोस्वामीके हाथोंमें वह केवल निक्षिप्त ही माना जायेगा. ऐसी स्थितिमें —

मूल : गुर्वर्थे दारमुज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन् देवतातिथीन्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् नतु तृप्येत् स्वयं ततः॥

अनुवाद : गुर्वर्थ,विवाहार्थ,देवतार्चनार्थ,अतिथ्यर्चनार्थ किसीसे भी प्रतिग्रह किया जा

सकता है परन्तु उसके उपभोगसे स्वयंको तृप्त नहीं करना चाहिये.(वासिष्ठवचन याज्ञ.स्मृ.बा.क्री.आचार. १।२१३में उद्धृत).

मूल : यः स्वदत्तां परैः दत्तां हरेत सुरविप्रयोः।
वृत्तिं स जायते विडभुग् वर्षाणामयुतायुतम्॥ (भाग.११।२७।५४).

अनुवाद : स्वप्रदत्त या परप्रदत्त सुरवृत्ति (अर्थात् देवताराधनार्थ निक्षेप)का अथवा विप्राजीविकार्थ निक्षेपका जो हरण करता है वह अयुतायुत वर्षोंपर्यंत विष्ठा खानेवाला (शूकर) बनता है.

मूल : चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युः हव्यकव्ययोः॥ (मनुस्मृ.३।१५२).

यहां व्याख्या करते हुए (१) मेघातिथि (२) सर्वज्ञनारायण (३) कुल्लुक (४) राघवान्द (५) नन्दन (६) रामचन्द्र (७) मणिराम तथा (८) गोविन्दराज –सभी व्याख्याकार एकमत हैं. यथा क्रमशः (१)...'देवलकाः' प्रतिमापरिचारकाः आजीवनसम्बन्धेनेतौ प्रतिषिध्येते. (२) 'देवलकान्' धनार्थं देवार्चकान्. (३) 'देवलः' प्रतिमापरिचारकः वर्तनार्थमेवैतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेधो नतु धर्मार्थम्. (४) 'देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेद्' इति देवलेन निर्णीताः. (५)"देवकोशोपजीवी तु नाम्ना देवलको भवेद्" इति स्मृत्यन्तरवचनम्. (६) धर्मार्थे तु चिकित्सकदेवलकयोः दोषाभावः. (७) 'देवलः' प्रतिमापरिचारकः 'देवकोशोपभोगी च नाम्ना देवलको भवेद्" इति देवलवचनात् एतत्कर्म कुर्वत एवायं निषेधो ज्ञेयः. (८) 'देवलकः',प्रतिषेधो न धर्मार्थं तत्र विहितत्वात्.

ये स्वार्थप्रतिष्ठापित देवकी आजीविकार्थ आराधना करनेवाले अर्थात् स्वार्थप्रतिष्ठापित देवसंप्रदानक निक्षेपके उपभोग करनेवालोंको उद्देश्य करके हैं, उत्सर्गतया. अपवादतया परार्थप्रतिष्ठापित देवसंप्रदानक अन्न-वस्त्र-पुष्प निवेदित-समर्पित या मालासदृश भगवदुपभुक्त वस्तुओंके भगवत्प्रसादत्वेन उपभोगकी निंदनीयताका प्रमाण नहीं है अर्थात् पूर्वोक्त उत्सर्गका अपवाद है. परन्तु परार्थप्रतिष्ठापित देवमूर्तिको ही किसी वित्तदाताद्वारा देवमूर्तिस्वत्वोत्पत्त्यर्थ उपाहृत-उपायनीकृत रजतसुवर्णभूमिकूपक्षेत्रादिका अपहरण देवद्रव्यापहारदोषोत्पादक होता ही है.

अतः या तो गोस्वामिओंको अपने आराध्य भगवत्स्वरूपको परार्थप्रतिष्ठापित सार्वजनिक देवालयमें बिराजमान मानकर स्वयंको पूजारी मानना पडेगा. ऐसी स्थितिमें किसी भी प्रधान द्वितीय या षष्ठ, सप्तम पीठोंकी षष्ठपीठाधीशताका दावा खण्डित हो जायेगा. और स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप स्वीकारनेपर भगवदर्थ निक्षिप्त उपाहृत-उपायनीकृत भेट-सामग्रीको सोनेकी कटोरी, संतदास, किशोरीबाई की वातके अनुसार देवद्रव्य मानकर अपने उपभोगमें लानेकी लालसापर काबू पाना पडेगा. अन्यथा देवलकत्व या देवद्रव्यापहार वज्रलेपायित ही होगा.

(२) एतदर्थ भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक उपायनीकृत परवित्तका प्रतिग्रहका

कल्प अंगीकार करनेपर अधोलिखित दोषापत्ति आती है—

मूल : न तीर्थे प्रतिगृह्णीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि।
अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्॥
तीर्थे प्रतिग्रहो यस्तु तीर्थविक्रयएव सः।
विक्रीतायां तु गंगायां विक्रीतः स्याज्जनार्दनः॥
जनार्दने तु विक्रीते विक्रीतं भुवनत्रयम्।
यस्तु लौल्याद् द्विजः क्षेत्रे प्रतिग्रहरुचिः भवेत्।
नैव तस्य परो लोको नायं लोको दुरात्मनः॥
(प्रायश्चित्तमयूखोद्धृत पाद्मवचन)

अनुवाद : तीर्थमें प्राण कण्ठमें अटके हो तब भी प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये, कोई कितना भी कामातुर हो परन्तु अपनी मांको तो छोडता ही है. तीर्थमें अर्थात् तीर्थनिमित्तक प्रतिग्रह तीर्थविक्रय ही है.(जैसे आधुनिक गोस्वामी व्रजयात्राद्वारा अर्थोपार्जन करते हैं) गंगाको बेचनेपर तो जनार्दनको ही बेचा समझना चाहिये. जनार्दनको बेचा तो भुवनत्रयको बेच खाया! अतः लोभवश तीर्थक्षेत्रनिमित्तक प्रतिग्रहरुचिवाले दुरात्मा ब्राह्मणका ऐहिक पारलौकिक सब कुछ बिगडा हुआ समझना चाहिये.

अतएव सर्वनिर्णयनिबन्ध तथा भागवतार्थनिबन्ध को भागवतपुराणनिमित्तक प्रतिग्रहकी निन्दाके ये वचन भी मननीय हैं— "...ततो भागवतं कृतं, एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्॥६७॥

साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्।पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः॥२४२॥

पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्।वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि॥
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्॥२५३-४॥

इदं भागवतं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति. (भागवतार्थप्रका.१।२७).

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥ (सि.मु.१६)

'लोकार्थी'ति श्लोकस्तु संसारिमध्येपि यो जघन्याधिकारी तत्परइति उपेक्षितः. परं तत्र अयमर्थः– लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी. (सि.मु.वि.प्र.१६).

ऐसी स्थितिमें एकत्र नहीं किन्तु अनेकत्र तीर्थ भागवतादिमें निर्णीततया निन्दित तीर्थादिनिमित्तक भागवतादिनिमित्तक प्रतिग्रह उनका विक्रय ही होता हो तो "असति बाधके अन्यत्र (सेवायाम्) अपि युज्यते."(द्रष्ट.विमर्श.पृ.१५१.) क्यों नहीं स्वीकारा जाता? क्योंकि यदि साक्षात् भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रहको धर्म्य मान लेते हैं तो पुनः "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके

अन्यत्रापि युज्यते''न्यायसे तीर्थ-भागवतादिपर भी लागू होगा. यदि तीर्थ-भागवतादिमें कण्ठोक्त निषेधको बलवान मानते हैं तो यहां भी कण्ठोक्त निषेध तो अनेक उपलब्ध होते ही हैं. फिर अन्तर कैसे आयेगा?

अतः स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक प्रतिग्रहको भी स्वमार्गमें अत्यन्त गर्ह्य मानना चाहिये – यह सिद्ध होता है.

इस तरह "वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिका एका" वचनांशके विवेचनतया वित्तदानके अनेकविध विहित अनुमत अनिन्द्य तथा कुछ निन्द्य प्रकारोंके भी स्वरूपोंका विचार कर कैसे वे उपदिष्ट तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपघटक हो सकते हैं या नहीं यह हमने देखा. उसके बाद "एतादृशेन (वित्तग्रहीत्रा) पुंसा कृता च अपरा" वचनांशके विवेचनतया वित्तग्रहणके कुछ प्रकारोंका भी स्वरूप समझ लेना उपकारक होगा—

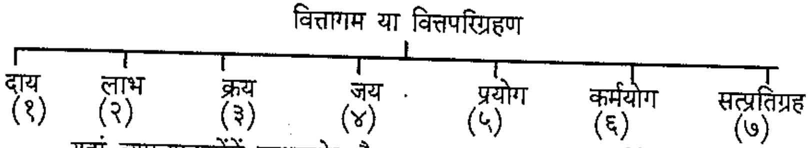

यहां व्याख्याकारोंमें प्रस्थानभेद है. तदनुसार कुछ व्याख्याकारोंके मतमें ब्राह्मणके लिये दाय-लाभ-क्रय-सत्प्रतिग्रह – यों वित्तपरिग्रहके चार धर्म्य प्रकार हैं. क्षत्रियके लिये दाय-लाभ-क्रय-जय, वैश्यकेलिये दाय-लाभ-क्रय-प्रयोग-कर्मयोग; तथा क्षुद्रकेलिये दाय-लाभ-क्रय. अन्य व्याख्याकारोंके अनुसार जय-प्रयोग-कर्मयोग भी क्रमशः वादिजय, अध्यापन, याजनके रूपोंमें ब्राह्मणके ही वित्तागमके धर्म्य प्रकार हैं.

वैसे इन सात विभागोंके धर्म्यत्वनिरूपणका शास्त्रीय तात्पर्य यह तो लेशमात्र भी नहीं है. ब्राह्मण इन धर्म्य उपायोंसे केवल वित्तोपार्जनपरायण ही बन जाये क्योंकि श्रीमद्भागवत तथा मनुस्मृति दोनोंका स्पष्ट आदेश है.

मूल : इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्॥
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक्तयोः।
ब्राह्मणस्य हि देहोयं क्षुद्रकामाय नेष्यते॥
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यार्पितात्मा गृहएव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम्॥....
यस्त्वासक्तमतिर्गेहो पुत्रवित्तेषणातुरः।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥ (भाग.११।१७।४०-५८).

अनुवाद : यजन शास्त्राध्यायन और दान सभी द्विजोंके कर्तव्य है; याजन शास्त्राध्ययन और प्रतिग्रह ब्राह्मणके ही. जितना अधिक प्रतिग्रहमें रचता पचता है उतने ही ब्राह्मणके तप तेज और यश का नाश होता है. अतएव अध्यापन और याजन द्वारा ही आजीविका चलाना ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता है. अथवा उनमें भी दोषदर्शन होता हो तो शिलोञ्छवृत्तिसे जीना चाहिये. क्योंकि यह ब्राह्मणयोनि क्षुद्र (लाभपूजाकामनाओं जैसी) कामनाओंकी पूर्तिके लिये नहीं मिलती है. यह तो मिलती है भूतलपर कृच्छ्र-तपके लिये तथा देह छूटनेपर अनन्त (पारमात्मिक) सुख पानेके लिये. शिलोञ्छवृत्तिसे परितुष्ट चित्तवाला महान विरज धर्मका सेवन करनेवाला परमात्माको आत्मसमर्पण करनेवाला गृहमें रहनेपर भी गृह्यकृत्योंमें अतिप्रसक्त न होनेवाला ही शान्तिको पाता है...परन्तु घरमें जिसकी मति आसक्त है, पुत्रैषणा और वित्तैषणा से जो आतुर है ऐसा स्त्रैण कृपणधी मूढ अहन्ता-ममतामें बन्ध जाता है...यह मूढ घर भरनेके चक्करमें कभी तृप्त हो नहीं पाता और घरके लोगोंका ध्यान करते करते मरनेपर अन्धंतमनरकको प्राप्त करता है.

अतएव मनुस्मृतिमें भी यही कहा गया है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः॥
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥ (१०।७५-७६).

"विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः"का वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये याज्ञवल्क्यका यह वचन मननीय है—

अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः।
अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यस्तथा द्विषः॥ (याज्ञ.आचा.९।२१२).

अतएव मनुस्मृतिमें कहा गया है—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥
ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ (मनुस्मृ.४।२-६).

अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीने शिलोञ्छादि ऋतवृत्तिको अपना पानेकी आधुनिक ब्राह्मणोंकी असामर्थ्यको लक्ष्य करके अध्यापनोपदेशपूर्विका अमृताख्या अयाचितवृत्तिद्वारा आगत चरणभेटसे जीवननिर्वाहकी नियमविधि स्ववृत्तिवादमें प्रतिपादित की है. वहां वृत्त्यर्थ भगवदुपायनीकृत भेट-सामग्रीका, यद्यपि, स्पष्ट निषेध नहीं किया किन्तु उस वादग्रन्थको तथा "न च यागो यजमानस्य वित्तदातुः फलतीति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्" (सि.मु.वि.प्र.२) और "लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण..." (सि.मु.वि.प्र.१६) वचनोंके परस्पर समन्वयपूर्वक तात्पर्योन्नयन करनेपर विहित-निषिद्ध प्रकारोंका बोध सर्वथा सुलभ है. फिर भी श्रीपुरुषोत्तमजीके ही घरमें उनके ही उत्तराधिकारियोंका यह कहना कि— "यहां यह ध्यातव्य है कि अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा...**महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं यह सन्दिग्ध** है. परन्तु इस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है."(विमर्श.पृ.५७-५८.) एक विलक्षण अकाण्डताण्डव है.

आश्चर्य होता है कि यहां श्रीपुरुषोत्तमजीका खण्डन विमर्शकारको चिकीर्षित है या श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनाभिप्रायावगममें स्वासामर्थ्य!

यदि खण्डन अभिप्रेत हो तो तब तो "ततो भागवतं कृतम् एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् परमत्रैको महान् दोषः तदुपजीवनमिति. अतस्तदभावमाह अनुपजीवनादिति. वृत्त्यर्थमुपायो न कर्तव्यः." (सर्वनि.प्र.६७). "पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं **वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि** तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्" (सर्वनि.२५३-४)."सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा नामात्मकं **भगवतो रूपं** ,तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति." (भाग.नि.प्रका.१।२७).भागवतके वृत्त्यर्थ उपजीवनमें हेतु श्रीमहाप्रभुने 'भगवतो रूपम्' अर्थात् 'भगवद्रूपत्वात्' दिया है. अतः "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते" (विमर्श.पृ.१५१) स्वाभ्यूपेत न्यायानुसार स्वाराध्य श्रीबालकृष्णलालजीको भगवद्रूप मानते हो तो शीघ्र ही वृत्त्यर्थ उपजीवनका त्याग करना चाहिये अन्यथा स्वाराध्यकी भगवद्रूपता अभिप्रेत न हो तो श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनका खण्डन श्रीमदाचार्यवचनके खण्डनमें पर्यवसित हो रहा है. इस स्वारूढशाखोच्छेदनकी विचित्र अर्थाभिनिवेशितात्मताके बारेमें क्या कहना?

यदि श्रीपुरुषोत्तमजीके वचनोंके अभिप्रायावगममें खुदके असामर्थ्यका द्योतन विवक्षित हो तो निर्लोभ निर्दम्भ होकर यहां भी "क्योंकि प्रकृतिमें आनेवाले अंगोंको विकृतिमें लेना या नहीं –इस विषयमें मीमांसाशास्त्रका सिद्धान्त है कि वे अंग प्रधानके उपकारक हो तो उन्हें लेना. (अर्थात् उपकारक न हो तो न लेना) प्रकृतमें यह ध्यातव्य है कि प्रधान भगवत्सेवा है." (विमर्श.पृ.१७५). अतः देवलकप्रकरणप्रदत्त वे सारे शास्त्रवचन जो वृत्त्यर्थ विष्णुपूजनमें भी देवलकता नहीं आती ऐसा प्रतिपादन करते हैं वे स्वतः अप्रासंगिक हो जायेंगें. क्योंकि "वचनात्प्रवृत्तिः वचनात् निवृत्तिः"ही एकमात्र शरण होती है. वैसे इन सारे वचनोंके आधारपर किये गये विमर्शका विशोधन आगामी द्वितीयादि परिच्छेदोंमें तो सविस्तर होगा ही.

अतः वित्तागमके दायादिके सातोंके सात धर्म्य प्रकारोंद्वारा स्वस्वत्वापन्न वित्तद्वारा सेवा करनेपर ही तनुवित्तजा स्वरूप अखण्डित रहेगा. अन्यथा स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक अथवा भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक वित्तके स्वोपभोगपर्यवसायी परिग्रह करनेपर या तो देवस्वापहरण या देवलकता दोष वज्रलेपायित है.

ऐसी स्थितिमें श्रीमत्प्रभुचरणकी विवृत्तिके (७ख) वचनांश, जो श्रीमहाप्रभुके "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा"अंशके अभिप्रायज्ञापनार्थ है, उसमें वित्तदान तथा वित्तपरिग्रहके वर्जितावर्जितप्रकारोंकी व्यवस्था स्पष्ट हो जानेपर तदनुरोधसे निष्कर्षरूप (ग) "एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिर्वदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः." विधानका आशयोन्नयन करना चाहिये न कि निष्कर्षानुरोधवश मूलवचनाभिप्रायका अन्यथानयन. व्याप्तिवचनके अनुरोधसे पक्षमें साध्यनिर्णय की प्रतिज्ञा की जाती है न कि प्रतिज्ञानुरोधवश व्याप्तिस्वरूपका उपपादन. न्यायशास्त्रके इस सामान्यनियमका उल्लंघन विमर्शकारद्वारा स्वगृहमें विश्रुत नैयायिकोंको संरक्षण देनेकी उपयोगितापर एक प्रश्नचिह्न लगाता है!

(ग)तदनुसार इस प्रभुचरणप्रदत्त निष्कर्षमें कुल कितनी बातें आयी हैं उनका अंकविन्यासपूर्वक परिग्रहण उचित होगा—

***एतेन "(१) भगवदर्थं (२) निरुपधि-(३) स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं (४) तत्रैव स्वदेहविनियोगे (५) प्रेम्णि जाते (६) सा भवति"* इति भावः.**

***"एतेन इति भावः"**अंशोंसे प्रस्तुत पंक्ति स्वाव्यवहितपूर्वोक्तिका निष्कर्षरूप है –यह द्योतित करता है.

(१) **'भगवदर्थं'**पदका अभिप्राय सेवाके प्रयोजनका परिष्कारक है यथा—

न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः॥
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा सेव्यः..। (शिक्षाश्लोकी).

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा।

ननु कश्चिद् जीविकार्थमपि भजते तस्य का गतिः? इत्यतः आहुः लोकार्थी इति. लोकपदेन लौकिको अर्थः युज्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलं ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणाद् इति सर्वथा इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति चेद् इति उक्तम्. (सि.मु.वि.श्रीमत्प्रभुचरणकृत स्वोपज्ञप्रक्षेप श्लो.१६).

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये॥
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात्॥

(श्रीहरिरायकृत शि.प.१८।१२-१३).

"लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण..." (सि.मु.वि.प्र.१६).

(२) 'निरुपधि': 'निरुपधिता'का सुगमतम स्वरूप तो श्रीप्रभुचरणने "फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो न तु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते" कहकर समझा ही दिया है.

यहांपर श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजी के वचन भी अनुसंधेय हैं. यथा—

"फलरूपस्य तस्य स्वतःपुरुषार्थत्व(न तु वृत्त्यर्थत्व-पीठाधीशत्वप्रतिष्ठार्थत्व-कहाडीभेटप्राप्त्यर्थत्व : गो.श्या.म.)धर्मावच्छिन्नसेवाकृतिः...फलसेवनं हि स्वतःपुरुषार्थः यथा कामिन्याः...कामप्रयत्नयोः एक(भगवत्प्रवणचित्तत्वरूप)विषयत्वेन इति (अर्थात् एतदितरविषयकत्वे निरुपधित्वभंगः) अर्थः."(सि.मु.वि.टि.१).

इसी तरह श्रीव्रजनाथजीका स्पष्टीकरण भी नितान्त मननीय है— "फलसेवनं हि स्वतःपुरुषार्थः इति. अतएव धर्मार्थयोः काममोक्षद्वारा पुरुषार्थता. काममोक्षयोरेव साक्षात् सुखहेतुत्वात् स्वतःपुरुषार्थत्वम्." (सि.मु.वि.टि.१).

(३) 'स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकम्'के अवलोकनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम तो वित्तका स्वप्रभुसंप्रदानक दान-निक्षेप-न्यास-परायत्तीकरण नहीं किन्तु निवेदन-समर्पण ही इतिकर्तव्यतया अभीष्ट है. ताकि स्वयंका 'स्वत्व' उसपरसे निवृत्त न हो जाये. अतः 'स्व-स्व(वित्त)निवेदन' किया जाता है. दूसरे कुछ अपनी स्वनिमित्तक-स्वसंप्रदानक चरणभेटका स्वार्थोपयोग तथा भगवन्निमित्तक-स्वसंप्रदानक अथवा स्वनिमित्तक-भगवत्संप्रदानक वित्तका भगवत्सेवार्थ उपयोग करना, इसी तरह एवं देवलकतारूपनिषिद्धवृत्तिलब्ध अथवा देवस्वका ही भगवत्सेवार्थ उपयोग करना

—इस तरह अंशतः नहीं किन्तु 'स्व' = स्वत्वविशिष्ट-'सर्व = सकलचेतनाचेतनरूप 'स्व' = वित्तके निवेदन(तदुपलक्षित समर्पण/विनियोग)पूर्वक भगवत्सेवा कर्तव्य है.

अथवा 'स्व' = देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणतद्धर्मविशिष्ट आत्मा स्वयं तथा 'सर्वस्व' = दारागारपुत्राप्तवित्तेहापरका निरुपधि निवेदन — अर्थ भी शक्य है. अतः यहां ब्रह्मसंबंधदीक्षाका ही प्रभुचरण परामर्श कर रहे हैं.

(४) 'तत्रैव स्वदेहविनियोगे' : यहां स्वयं तथा सकलस्वकीय के निरुपधि निवेदनोत्तर अवश्यकर्तव्यताक स्वस्वीयके विनियोगकी बातपर भार दिया जा रहा है, अन्यत्र विनियोगपरिहारार्थ. "असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः." (सि.र.४-५) वचनसे वह आगे विवक्षित है ही.

यद्यपि विमर्शकारने इस अंशका दुरुपयोग तनुजा-वित्तजाके पार्थक्य सिद्ध करनेको महापुरुषार्थतया किया है. फिर भी उस वाक्छलमें एक सत्य, जो बहोत सुन्दर रीतिसे उभरकर आया है, वह यह कि 'निरुपधि' = फलाकांक्षा-कापटच-रहितता को दोनों तनुजा एवं वित्तजा के साथ जोडना चाहिये —यों कहा गया है. (विमर्श.पृ.५). यद्यपि शब्दमर्यादया यह शक्य नहीं फिर भी तात्पर्यानुरोधवश सर्वथा उचित ही है. ऐसी स्थितिमें वृत्त्यर्थ सेवाको धर्म्य मानना साथ ही साथ फलाकांक्षाकापटचरहित तनुजा और वित्तजा का भी समर्थन करना "मम माता वन्ध्या"सदृश वदतोव्याघात है!

(५)'प्रेम्णि जाते' : 'प्रेम्णि'की सप्तमी वैषयिकी,नैमित्तिकी अथवा सतीसप्तमी भी हो सकती है. वैषयिकी लेनेपर प्रेमविषयक स्वदेहविनियोग —ऐसा अर्थ होगा. नैमित्तिकी लेनेपर भगवत्प्रेमोपलब्धिनिमित्तवशात् भगवत्सेवामें स्वदेहविनियोग —ऐसा अर्थ होगा. अथवा सतीसप्तमी लेनेपर भगवत्सेवामें स्वदेहविनियोग होनेपर प्रेम प्रकट होता है. प्रेम होनेपर चित्त भगवत्प्रवण होकर मानसीसेवाके हेतु समर्थ बनता है. वृत्त्यर्थ प्रेम तथा प्रेमार्थ वृत्ति के बीच महान अन्तर होता है. पतिव्रता गृहवधू स्वपतिस्नेहार्थ पोष्य बन कर पतिवित्तोपजीविनी होती है. जबकि दुश्चरित्रा वारवधू आजीविकार्थ वित्तदाताको प्रेम करती है. स्पष्ट है कि फलाकांक्षा-कापटच-रहित जब तनुजा या वित्तजा नहीं होती तब तो अभिलषित भेट-सामग्रीरूप फललाभार्थ अथवा पीठाधीशतारूप प्रतिष्ठार्थ ही चित्त तत्प्रवण बनेगा; वह भगवत्प्रवण नहीं बन पायेगा. इसका स्पष्ट उदाहरण विमर्शकारके इस विधानसे मिलता है— "निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा...महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं सन्दिग्ध है. परन्तु उस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है" (पृ.५७-५८). इस स्वीकारोक्तिके बावजूद न केवल सुरतकी हवेलीमें स्वनिर्वाहार्थ दर्शनार्थिओंकी भेट-सामग्री स्वीकारी जा रही है प्रत्युत आलोच्य

विमर्शग्रन्थमें उसका निर्लज्ज समर्थन और किया गया है. जबकि श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है—"विधर्मः परधर्मश्च आभासः उपमा छलः, अधर्मशाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्, सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखं-, कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥" (भाग.७।१५।१२,१६).

परधर्मानुष्ठानका अनुमोदन यदि धर्मस्थानोंसे शुरु हुआ तो कल वैष्णव अन्याश्रय भी करनेकी छूट लेंगे; "शिवदुर्गागणपतिभजन उपधर्म नहीं है" कहकर. जैसे गोस्वामिसजातीयभट्टवर्ग गोस्वामिओंके बेटीजीका पाणिग्रहण करते हैं तो वह भी उपधर्म कहा हैं? सो उसमें दोषबुद्धि खतम हो जायेगी. वैष्णव भी पाणिग्रहणका प्रस्ताव लेकर आने लगेंगे! इतना अविचारित विधान कैसे कोई धर्माचार्य कर सकता है —यह विस्मयका विषय है!

(६) 'सा भवति' : 'सा'का अर्थ मानसी सेवा या भगवत्प्रवणता यथेष्टतया लिया जा सकता है. इस तरह अत्यधिक विवादास्पद ७वे अंशकी विवेचनाके बाद श्रीप्रभुचरणोत्तरकालीन सभी मान्य व्याख्याकारोंद्वारा विशेषोल्लेखनीय अंशोंके मननार्थ अब प्रवृत्त होना चाहिये.

(III) प्रभुचरणोत्तरकालीन व्याख्याएं

(१)स्वसिद्धान्तविनिश्चय : यहां श्रीगोकुलनाथजीने 'विनिश्चय'के 'वि'उपसर्गका तात्पर्य साक्षात् श्रुतिनिरूपित अर्थका ही निरूपण श्रीमहाप्रभु करना चाहते हैं —इस अर्थमें लिया है. इसी तरह 'स्वसिद्धान्त'पदगत 'स्व'का तात्पर्य स्वमत श्रुत्यर्थ ही है ऐसे प्रयोजनवश स्वीकारा है. यही बात श्रीकल्याणरायजीने भी स्वीकारी है. श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार 'शास्त्र' = काण्डद्वयात्मक वेद अथवा तदर्थनिश्चायक वेदान्त है. '(तद्-)अर्थ' = प्रयोजन या तात्पर्य के बारेमें संशयनिरासार्थ प्रकृत उपदेश श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं. तत्पश्चात् द्वितीयस्कन्ध-एकादशस्कन्धोक्त भक्तिके संदर्भमें यह सारा निरूपित हुआ है ऐसा विधान करते हैं. स्पष्ट है कि यह आजीविकार्थ उपदेश हो नहीं सकता. श्रीवल्लभजीने 'शास्त्रार्थ'तया गीताभागवतार्थका परिग्रहण किया है. श्रीलालुभट्टजीने श्रुतिगीतासूत्रसमाधिभाषारूप शास्त्रोंसे सिद्ध स्वकीय सिद्धान्तके निरूपणार्थ प्रकृत उपदेशारंभ मान्य किया है. श्रीलालमणिसुत श्रीविठ्ठलरायजीकी तथा श्रीनरसिंलालजीकी टीकाएं क्रमशः गुजरातीभाषा तथा व्रजभाषामें श्रीपुरुषोत्तमजीके प्रकाशका ही अनुवाद हैं या सार हैं सो यथापेक्षित सन्देहनिरसनार्थ ही उनका उद्धरण दिया जायेगा.

(२) कृष्णसेवा : श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां स्पष्टीकरण दिया है कि कृष्ण परब्रह्म, भूमविद्योक्तनित्यनिरवधिसुखरूप होनेसे परमफलरूप है. ऐसे फलात्मक भगवान कृष्णकी

सेवाको फलबुद्धिसे करना सिद्धान्त है. (अर्थात् आजीविकोपार्जनके साधनतया नहीं —यह पृष्ठलग्नायात है.) साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमजीने यह खुलासा भी दिया है कि मोक्षपर्यंत पुरुषार्थोमें उपेक्ष्यबुद्धि जगानेवाली भक्तिलक्षणा सेवा है. (अर्थात् वित्तप्रतिष्ठादि क्षुद्र लाभोंके हेतु उसका प्रयोग स्वरूपविघातक ही होगा). श्रीवल्लभजी कहते हैं— फलरूप श्रीकृष्णकी स्वतःपुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नसेवाकृति स्वसिद्धान्त है. (अर्थात् आजीविकार्थ वृत्त्यर्थ तनुजा सेवा स्वतःपुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नकृति ही नहीं —यह समझ लेना चाहिये). श्रीव्रजनाथजीने अतीव महत्वपूर्ण स्पष्टता "कामप्रयत्नयोः एकविषयत्व"के रूपमें स्वतःपुरुषार्थताको परिभाषित किया है. ऐसी स्थितिमें पेंफलॅट छापकर दर्शनार्थिओंको आकृष्ट करनेका प्रयत्न वित्तविषयक हो और कामना भगवत्सेवाविषयिणी हो अथवा प्रयत्न भगवत्सेवा करनेके हों और विमर्शकारोक्तरीतिसे कामना वृत्ति कमानेकी हो. अर्थात् प्रयत्न सेवाविषयक हो और कामना वित्तविषयिणी हो तो उसकी स्वतःपुरुषार्थता स्वतः ही खण्डित हो जाती है. श्रीलालुभट्टजी भी मोक्षावधि पुरुषार्थको तुच्छ मानकर भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेकी बात कर रहे हैं. श्रीद्वारकेशजीने यहां फलात्मक श्रीकृष्ण और फलात्मिका कृष्णसेवाके बीच कार्यकारणभाव अर्थात् जन्यजनकभाव संबंध भी निरूपित किया है. स्पष्ट है कि दोनोमें भेद दिखलानेके लिये यह निरूपण नहीं प्रत्युत अभेदनिरूपणार्थ ही है. जैसे सर्वनिर्णयमें श्रीमहाप्रभुने "अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः...क्रमात् पञ्चविधो हरिः तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादिस्रुगादि यत्" (सर्वनि.२।३) द्वारा कर्मकी ब्रह्मात्मकता समझाई है. वैसे ही यहां भी कृष्णसेवाकी कृष्णात्मकताका अभिप्राय समझना चाहिये. अतः आजीविकार्थ कृष्णसेवा आजीविकार्थ कृष्णविक्रयोपम ही होता है. "तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति." न्याय यहां भी अनुसन्धेय है.

(३) 'सदा' : श्रीगोकुलनाथजीने सभी जीवोंका सहजदासत्व है इसमें संकुचितवृत्तिसे आसुरजीवातिरिक्त सभी जीव सहजदास हैं यह दिखलाया है. 'सदा'पदकी उत्थानिकामें अंशी परमात्माके अंश होनेसे जीवात्माके आत्मस्वरूपविचारवश सेवाकी सहज कर्तव्यताका निरूपण किया है. अर्थात् किसी कालिक निमित्तवशात् नहीं प्रत्युत जीवात्माके साहजिकस्वरूपविचारवश सेवाकी कर्तव्यता है. अतएव जो जीव सेवा नहीं कर पाते उन्हें 'आसुर' इसी अर्थमें कहा जाता है कि उनका सहज स्वभाव अन्य अर्थ-कामादि सम्पादित करनेकी अहंता-ममतासे ग्रस्त हो गया है —ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजीका तात्पर्य है. श्रीवल्लभजीने तथा श्रीव्रजनाथजीने यहां यह स्पष्टीकरण विशेषतया दिया है कि 'सहज'पदमें 'ज'का अर्थ 'जन्य' न लेकर 'सत्ता'लेना चाहिये, क्योंकि नित्य होनेके कारण जीवात्माके जनन-मरण होते नहीं. 'सहज' यानि सहजात नहीं परन्तु सहसत्ताक. अतः जैसे जीवकी

सत्ता जीवसे पृथक् नहीं उसी तरह दासत्व भी उससे पृथक् नहीं हो सकता. इससे स्पष्ट हो जाता है कि वृत्त्यर्थ भगवद्दास्य संभव नहीं; भगवद्दास्यभावार्थ वृत्ति हो सकती है. दास्यधर्म ही सेवा है. शास्त्रीय कर्म देहाधिकारक कालाधिकारक है. एक ही जो कर्म ब्राह्मणदेहोपेत होनेपर हम कर सकते हैं वह शूद्रदेहोपेत होनेपर नहीं कर सकते. एक ही ब्राह्मण जो कर्म गृहस्थाश्रममें कर सकता है वह ब्रह्मचर्य या संन्यासाश्रममें नहीं कर सकता. ऐसा देहकालपरिच्छेद भगवत्सेवामें नहीं है. अधिकमासके कालमें रुपये ऐंठनेके लिये अधिकमासका माहात्म्य आज पुष्टिमार्गमें दिखलाया जाता है —वह अन्य कथा है. अन्यथा "न कालोत्र नियामकः"वचनका क्या होगा?

(४) **'कार्या'** : यहां व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि सेवा करनी आवश्यक है यह 'कार्या' कहकर सूचित किया. वहां आवश्यक वह होता है कि जिसके एक बार किसी भी रूपमें अवगत होते ही बादमें उसके न होनेपर हमारा अनिष्ट हो जायेगा —ऐसा भाव मनमें जगना, अथवा ऐसी कोई बात कर पाना. किसी भी बातके आवश्यक होनेका यह केवल मतलब नहीं होता कि वैसा करनेकी हमें अनुल्लंघनीय आज्ञा मिली है. कृष्णसेवा हमारा आवश्यक कर्तव्य है अतः न करनेपर हम प्रत्यवायी अर्थात् भक्तिमार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं. अतः अपने आपके बारेमें "मैं भगवद्दास हूं" ऐसा भान रखते हुए सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थ (अर्थात् धर्मार्थकाममोक्षमेंसे किसी भी एकके साधनतया नहीं; आजीविकाके लिये तो नहीं ही) है अतः दास होनेके नाते आवश्यक धर्म मानकर सर्वदा सेवा करनी चाहिये. श्रीवल्लभजी और श्रीव्रजनाथजी ने भी करीब करीब यही बात कही है. श्रीद्वारकेशजीने एक बहोत सुन्दर स्पष्टीकरण दिया है कि वैसे तो मानसी सेवा जीवकृतिसाध्य नहीं, जैसे अलौकिकसामर्थ्य भगवानके द्वारा प्रदान करनेपर ही सिद्ध होता है अन्यथा नहीं वैसे. मूलमें श्रीमहाप्रभुद्वारा 'कार्या' ऐसे विधिवचनका प्रयोग करना तथा नहीं करनेपर जीव प्रत्यवायी बनता है ऐसा विवृतिमें प्रभुचरणद्वारा स्पष्टीकरण देनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि पिता-पुत्र अपने शरणागत जीवोंको सेवा कर पानेका वरदान दे रहे हैं. (इससे यह सिद्ध होता है कि जो देवलक भगवत्स्वरूपनिमित्तक स्वसंप्रदानक वित्तोपार्जन कर रहे हैं अथवा जो देवद्रव्यादि स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक वित्तका उपभोग कर रहे हैं वे दोनों ही "मेरो होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो अरु खायगो सो महापतित व्है जायेगो मेरो नाहि कहावेगो" घोषणाके अनुसार श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्टिमार्गबहिष्कृत ही हैं.).

(५) **'मानसी सा परा मता'** : श्रीगोकुलनाथजीने यहां एक स्पष्टीकरण यह दिया है कि व्रजभक्तोंके भजनप्रकारसे अतिरिक्त किसी प्रकारसे मानससेवाकी भी फलरूपता नहीं है. (व्रजभक्तोंने प्रदर्शनार्थ आजीविकार्थ या पीठाधीशत्वप्रतिष्ठालाभार्थ भगवत्सेवा नहीं की थी अतः मानसी भी किसीको ऐसे विचित्र प्रकारोंसे सिद्ध हो गई हो तो उसे फलरूप नहीं मानना चाहिये.) साथ ही साथ यह भी खुलासा श्रीगोकुलनाथजीने दिया है कि क्योंकि सर्वात्मभाव एक मनोधर्म है अतः सर्वात्मभावपूर्विका सेवाका मानसी होना उचित ही है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां प्रश्न उठाया है कि सेव्यसन्तोषजनिका पूर्वोक्तप्रकारककायादि-व्यापाररूपा क्रिया ही यदि सेवा हो; उदाहरणतया राजसेवा या गुरुसेवा, तो उसका सर्वदा अनुष्ठान शक्य नहीं. इसका समाधान, परन्तु, यह है कि वैसे तो सेवाके, काय़िकी वाचिकी और मानसी के रूपमें त्रिविध होनेपर भी, विचार करनेपर, बाह्य एवं आभ्यन्तर होनेके रूपोंमें दो मुख्य प्रभेद है. यहां आभ्यन्तरी मानसी बाह्य सेवाकी फलरूपा है और बाह्य उसकी साधनरूपा है. यह बाह्या कायिकी-वाचिकी सेवा अवान्तरफलरूपा है सर्वदा अवश्यकर्तव्यताक. अतः साधनरूपा बाह्या सेवाका पुनःपुनः आवर्तन ही उसका सदा कार्या होना है. मानसी तो स्वयमेव भगवानके प्रति अविच्छिन्न मनोगतिका होना है, जो बाह्यावर्तनसे सिद्ध होगा. श्रीव्रजनाथजी कहते हैं कि दास्यधर्मविशिष्टा साधनरूपा सेवा होती है तथा सर्वांशमें कृष्णसंबंधविशिष्टा होनेपर फलरूपा मानसी होती है. उदाहरणतया जैसी सेवा व्रजगोपिकाओंकी थी वही मानसी सेवाका स्वरूप है. प्रभुचरणने भगवद्वचनको उद्धृत करके जो व्रजगोपिकाओंकी सेवाका निरूपण किया है उसमें "मय्यनुषंगबद्धधिय"अंशसे साधनरूपा सेवाके अनुवादपूर्वक "तानाविदन् स्वमात्मानमदस्त-थेदम्"अंशद्वारा उस सेवारूपा सेवाके अन्यानुसंधानरहित होनेपर मानसीत्व संपन्न होनेका विधान किया जा रहा है.

दूसरे शब्दोंमें भगवदासक्तिवशात् जब प्रपञ्चविस्मृति हो जाये तब उस भगवदासक्तिको व्यसनदशापन्न मानसी फलरूपा अलौकिक सामर्थ्य समझना चाहिये. इसे ही निरोधके रूपमें भी परिभाषित किया गया है. यहां इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि भगवत्सेवोपधिक अहंता-ममताका तो प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिमें पर्यवसान हो सकता है परन्तु पीठाधीशत्वरूपप्रतिष्ठैषणाजनिका अहन्ता तथा शिष्य-वित्तैषणाजनिका ममताकी पोषिका भगवदासक्तिका प्रपञ्चविस्मृतिमें पर्यवसान शक्य नहीं.

(६) **'चेतस्तत्प्रवणं सेवा** : यहां श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि मूलमें मानसीका स्वरूपनिरूपण "चेतस्तत्प्रवणं सेवा"द्वारा कहा. यहां 'प्रवण'के कोशार्थविचारवश प्रवणताकी तीन अवस्थाएं दिखलाते हैं कि चित्त पहले कुछ भगवानकी तरफ झुकता है या मुडता है, बादमें भगवानके अधीन हो जाता है; और तब भगवदेकतान.वृत्त्यन्तररहित तल्लीन हो जाता है. भक्तिवर्धिनीमें इन्हीं तीन अवस्थाओंको

प्रेम आसक्ति और व्यसन कहा गया है. श्रीलालुभट्टजीने यहां सर्वप्रथम 'तत्प्रवणं'में प्रयुक्त 'तत्'पदको 'कृष्णसेवा'न्तर्गत 'कृष्ण'पदका परामर्शी माननेकी उपपत्ति दी है. अतः चित्तका कृष्णप्रवण होना ही कृष्णसेवा है. एतदर्थ अनिमित्ता स्वाभाविकी मनोवृत्तिरूपा भागवती भक्ति होती है. (अतः आजीविका = वृत्तिनिमित्तवशात् अनुष्ठीयमाना कृष्णसेवा अपने स्वरूपलक्षणसे च्युत हो जाती है). श्रीलालुभट्टजीने ऐहिक या पारलौकिक किसी भी फलकी आशा रखे बिना भगवानके साथ मन जोडनेवाला भजन भक्ति है इस आशयकी श्रुति भी उद्धृत की है. तदनुसार वित्तार्थ तनुजा सेवा भक्ति ही नहीं रह जाती तो आगेकी तो बात ही क्या? 'भज'सेवायाम् से 'भक्ति'शब्द बनता है जो भक्ति पुरुषोत्तमके बारेमें अहैतुकी और अव्यवहिता होनी चाहिये —ऐसा उल्लेख किया गया है. अतः 'भक्ति'पदसे मुख्यतया मानसी सेवाका बोध स्वीकारा गया है.

श्रीद्वारकेशजीने यहां उदाहरण दिया है कि जैसे मोती या मणि में धागा पिरोते हैं वैसे भगवदीयका चित्त भगवानमें पिरोया हुआ बन जाता है. भगवानमें अथवा भगवानको प्रसन्न करनेवाले व्यापारमें चित्तका इस तरह प्रवण होना कि भगवान, मुक्तामणि जैसे धागाके अधीन बन जाती है ऐसे, भक्ताधीन बन जाये —यह समझाया है.

(७)'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा' : आधुनिक जीवात्माओंका तो व्रजभक्तों जैसा उत्तमाधिकार नहीं है सो तन्मार्गप्रवर्तक आचार्यचरणद्वारा उपदिष्ट प्रकारसे की जाती सेवा निरुपयोगी हो जायेगी. इसके समाधानार्थ श्रीप्रभुचरणने 'उक्तसेवासाधने'पदका प्रयोग किया है —ऐसा श्रीगोकुलनाथजी कहते हैं. अतः वैसा अधिकार न होनेपर भी श्रीमदाचार्योक्तप्रकारसे सेवा करनेपर वह फल मिलता ही है. यहां यह अवधेय है कि 'उक्तसेवासाधने'के द्विवचनका बावेला मचानेवाले 'क्रियमाणसेवायाः'एकवचनके बारेमें कुछ नहीं बोलते. आचार्य-प्रभुचरणोक्तप्रकार तनुवित्तजाका ही होनेसे स्वनिमित्तक भगवत्संप्रदानक अथवा भगवन्निमित्तक स्वसंप्रदानक परवित्तका परिग्रह करके जो तनुजा सेवा करते हैं वह शुद्ध अपसिद्धान्तभरी वञ्चना ही है.

आधुनिक पुष्टिजीवोंमें व्रजभक्तोंके जैसी निरुद्धता यदि न हो तो भगवत्सेवन निरुपयोगी सिद्ध होगा इसी आपत्तिके परिहारार्थ श्रीगोकुलनाथजी श्रीमदाचार्यचरणकी कृपाको भी एक सहकारी कारणके रूपमें प्रस्तुत कर रहे हैं. अर्थात् चित्तकी वैसी अवस्थाके बिना भगवत्सेवा अनुपयोगी सिद्ध हो सकती है. आजीविकार्थ की जाती तनुजा अथवा प्रतिष्ठार्थ या प्रायश्चित्तार्थ की जाती वित्तजाकी तो क्षुद्र निन्दनीय कथा है परन्तु यथोक्त तनुवित्तजा भी अनुपयोगी ही रहती यदि श्रीमदाचार्यचरणने कृपा करके "प्रवाहेण क्रिया रता" (पु.प्र.म.१५) "उभयोरभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं धर्मत्वं वा नतु भक्तिमार्गः" (निब.प्रका.१।१०२) वचनोंद्वारा पापनाशक केवल क्रियारूप पुष्टिधर्मका उपदेश न दिया होता. अतएव श्रीगोकुलनाथजी कहते हैं कि व्रजभक्तोंकी तरह हमारा चित्त भगवदैकपरायण न भी हो तब भी श्रीमदाचार्यचरणोक्त-- आत्मनिवेदनपूर्वक (सि.र.) स्वगृहमें (भ.व.) भार्यादि सकल परिचारकोंके निवेदन-समर्पणपूर्वक (निब.२।२३१) भावप्रदर्शनवृत्तिरहित (अणु.भा.) प्राप्त होनेपर शास्त्रोक्त स्ववर्णाश्रमाचारका यथाशक्ति निर्वाह (निब.) स्वकीयतनु तथा स्वकीयवित्त से कृष्णसेवात्मिका –क्रियामात्रका अनुष्ठान करेंगे तब ही चित्त उस अवस्थाको प्राप्त हो पायेगा.

फलतः विचारणीय है कि इस क्रियामात्रके अनुष्ठानमें भी श्रीमदाचार्यचरणोक्त प्रकारसे वैपरीत्य बरतनेपर तो उस क्रियाका स्वरूप भी खण्डित हो जाता है. अतएव तनुवित्तजा सेवाका श्रीगोकुलनाथजीको अभिप्रेत प्रकार तनुजा एवं वित्तजा के पार्थक्यपूर्वक नहीं —यह सिद्ध हो जाता है. श्रीकल्याणरायजीने इस अंशपर यहां कुछ विशेष विवेचन दिया नहीं है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां एक अतिशय महत्वकी बात समझाई है और वह यह कि यहां उपदिश्यमान कर्तव्यका मूल श्रीमद्भागवतके ये श्लोक हैं:—

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्॥
श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वांगैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥
मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः।
एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम्॥
मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते।
यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्॥
धर्मज्ञानं सवैराग्यम् ऐश्वर्यं चाभिपद्यते।
यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति॥
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्।
धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्॥
गुणेष्वसंगो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः।

(भाग. ११।१९।१९-२७).

इनमें कहीं भी भक्त्यर्थ पौरोहित्यकी अनुमति दिखलाई नहीं देती.

यद्यपि यहां एक शंका यह अवश्य की जा सकती है कि इन श्लोंकोमें तनुवित्तजाका भी तो कहीं निरूपण नहीं है, प्रत्युत 'तनुजा' = ''मदर्थेष्वंगचेष्टा'' तथा 'वित्तजा' = ''मदर्थेऽर्थपरित्यागो'' —इस तरह पृथक्-पृथक् ही प्रतिपादन हुआ है. समानतया, परन्तु, सावधानीपूर्वक यह विचारणीय है कि केवल वित्तजा अर्थात् स्वकीय-तनुसाहित्यके बिना अथवा परकीय तनुसाहित्यके बिना तो कृत्यर्ह ही नहीं. अतः सेवाका तनुवित्तजा होना तो मानसीकी सिद्धिसे पूर्व सर्वथा-सर्वथा-सर्वथा ही दुष्परिहर है —इसमें किसी भी तरहके अन्यथाकल्प, विकल्प या अनुकल्प की संभावनाकी गंध भी नहीं है.

अन्यथाकल्प विकल्प या अनुकल्प शक्य हैं इस पक्षमें कि अनुष्ठीयमाना तनुवित्तजा स्वकीय वित्तसे ही करनी चाहिये, जो श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणप्रभृति प्राचीन ग्रंथकारोंके द्वारा उपदिष्ट मत है; अथवा परकीय वित्तसे ही, जिसकी लालसाके विवश गोस्वामिगण दर्शनार्थिओंके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शनको अपना भगवत्सेवासे भी प्रमुख श्रेयस्कर स्वधर्म मानते हैं; अथवा उभयके वित्तसे, अर्थात् दर्शनार्थिओंके भी तथा स्वयंके भी; अथवा अनुभयके, अर्थात् कराधानसे बचनेके चक्करमें स्वपरान्यतर वित्तके देवस्वीकरणकी ट्रस्टनिर्मितिकी प्रक्रियासे; अथवा इनके विवेक रखनेके आग्रहको भगवत्सेवाविरोध मानकर अन्यतरके वित्तसे भी यथाकथंचित् सेवाप्रदर्शन चालु रहना चाहिये. क्योंकि आज अधिकांश पुष्टिमार्गिओंकी, विमर्शकारसहित, यह धारणा अतिसुदृढ है कि भगवत्सेवाप्रदर्शनके अभावमें पुष्टिमार्गोच्छेद हो जायेगा. मानो पुष्टिमार्ग पुष्टिप्रभुकी पुष्टिभक्ति करनेका मार्ग न होकर पुष्टिप्रभुके पुष्टिमार्गीय भजनरूप विश्वधर्म(!)के सार्वजनिक प्रदर्शनका ही मार्ग हो!

परन्तु विमर्शकारप्रमुख सभी पुष्टिमार्गिओंका कर्तव्य है कि उल्लिखित श्लोंकोंमें तथाकथित पृथक्-पृथक् तनुजा एवं वित्तजा का वर्णन जैसे उनके द्वारा खोजा जा रहा है, वैसे ही आधुनिक पुष्टिमार्गिओंको प्रभुके ये वचन भी खोज रहे हैं कि ''मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनं, यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्, धर्मज्ञानं सवैराग्यम् ऐश्वर्यं चाभिपद्यते, यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति, रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्.'' अतः मूल बात न मानसी सेवाकी रह जाती है और न तनुवित्तजाकी अथवा तनुजा या वित्तजा की ही! मूल बात है सर्वविध (आर्थिकलाभ-पीठाधीशप्रतिष्ठापूजा आदि-आदिकी) कामनाओंसे विवर्जित चित्तको भगवत्प्रवण बनानेकी. एतदर्थ न केवल ''मदर्थेष्वंगचेष्टा'' अर्थात् अहंतापरित्यागविषयक — ''मदर्थेऽर्थपरिग्रहः'' नहीं किन्तु ''मदर्थेऽर्थपरित्यागः'' अर्थात् ममतापरित्यागविषयक ही केवल उपदेशवचन नहीं है अपितु भगवदर्थक भोग-सुख-परित्यागविषयक भी उपदेशवचन हैं. चित्तको आत्मार्पित = भगवदर्पित रखनेके बजाय जब कोई आत्मविकल्प = भगवद्विकल्पोंमें अर्थात् भगवत्स्वरूपको धर्मोपायतया अर्थोपायतया कामोपायतया या मोक्षोपायतया इष्ट मानकर जब तादृशविकल्पार्थ अर्पित करता है तो भगवद्वचनप्रामाण्यानुरोधवश ऐसे चित्तको रजस्वल असन्निष्ठ विपर्यस्त मानना पडता है. इसी भगवदभिप्रायके विचारवश प्रभुचरणने कहा है—''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.'' और इसी विवृतिके आशयका अवगाहन करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजीने सुस्पष्ट कहा है कि सेवार्थ वित्तप्रदान राजसभावोपद्दीपक होता है तथा सेवार्थ वित्तपरिग्रह अविहित होनेसे निष्फल कर्मार्थ कालक्षेप है. अतः सिद्धान्तमुक्तावलीके उपदेशको भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षणके उपदेशसे समन्वित करके देखना हो तो यों कहा जा सकता है:

(क) प्रपञ्चमाहात्म्यज्ञानरहित भगवन्माहात्म्यज्ञान
(ख) प्रपञ्चव्यसनरहिता भगवद्रुचिपूर्विका तनुवित्तजा
(ग) प्रपञ्चासक्तिरहिता भगवत्प्रेमपूर्विका तनुवित्तजा
(घ) प्रपञ्चप्रेमरहिता भगवदासक्तिपूर्विका तनुवित्तजा
(ङ) प्रपञ्चरुचिरहिता भगवद्व्यसनपूर्विका तनुवित्तजा.

इस पांचवी अवस्थाको प्राप्त भगवत्सेवा अंतमें पुष्टिजीवको कृतार्थ बनानेवाली सर्वात्मभाव, मानसी सेवा या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक-भगवद्व्यसनभावापन्न चित्तकी तल्लीनतामें पर्यवसित होती है. यहां हम स्पष्ट देख सकते हैं कि प्रापञ्चिक लाभपूजाके व्यसनोंसे ग्रस्त चित्त लेशतः भगवानमें रुचि भी लेता है तो या तो पीठाधीशत्वोपयिक प्रतिष्ठा अर्थात् राजस अहंताके पोषणार्थ ही अथवा अर्थोपार्जनोपयिक लाभ अर्थात् निष्फल ममताके पोषणार्थ ही. ऐसी प्रापञ्चिकव्यसनवती अहंता-ममता न हो तो 'तनुवित्तजा'के अनुष्ठानमें विग्रहकी आवश्यकता ही नहीं. व्युत्पत्तिबोधमें विग्रह तो निर्दोष हो ही सकता है.

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजीने तो स्पष्टतया यहां श्रीमत्प्रभुचरणविवृतिके द्वारा प्रयुक्त 'उक्तसेवासाधने' द्विवचनका पुनः श्रीमत्प्रभुचरणाभिप्रायके अन्यथानयनकी संभावनाकी भीतिके वश तथा श्रीगीताभागवतादि शास्त्रीय संदर्भानुरोधवश भी पुनः एकवचनमें विभक्तिविपरिणाम किया है: ''यद्यपि एकादशस्कन्धे 'पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्' इति उपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् मयि सञ्जायते भक्तिः' इत्यन्तोक्तरीत्या **क्रियमाणं साधनं** (नतु साधने) तत्परिपाकदशायां तु स्नेहेन क्रियमाणं **तत्साधनम्** (नतु साधने). **तत्** (साधनं नतु साधने) चेत् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति.''

यहां सर्वत्र एकवचनसे साधनाभिधान हो रहा है, द्विवचनसे नहीं.

वैसे यह कोई बहोत बडी बात नहीं है क्योंकि एकवचन द्विवचन या बहुवचन वस्तुस्वरूपानुरोधवश नहीं प्रयुक्त होते किन्तु वक्तुर्विवक्षानुरोधवश ही. (द्रष्ट. “ ‘द्व्येकयोः द्विवचनैकवचने बहुषु बहुवचनम्’सूत्रयोः...द्वित्वविवक्षायां द्विवचनस्य बहुत्वविवक्षायां बहुवचनस्य विधायकं सूत्रमिति निरर्थकेभ्योऽसंख्येभ्य एकत्वसंख्याविरहेप्येकवचनं सिद्ध्यति इति” टिप्पणी म.म.शिवदत्तविरचिता.) परन्तु यह तो ‘उक्तसेवासाधने’में प्रयुक्त द्विवचनका बावेला मचानेवालेको केवल प्रतिबन्दी उत्तर है.

महत्वपूर्ण तो यहां यही है— सेवार्थ वित्तप्रदानसे अनिष्ट राजसत्वाभिवृद्धिप्रसक्ति तथा सेवार्थ वित्तप्रतिग्रहसे निष्फलत्वप्रसक्ति ही सर्वविध कुविमर्शोपशमनी है. विमर्शकारद्वारा पृष्ठ ४-६ तथा १०४-१३२ पृष्ठोंपर भी विस्तृत विचार इस विषयमें किया गया है जिन सबका उत्तर तो यथायथ क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंगमें तत्तद् अंशोंकी विशोधनिकामें दिया ही जायेगा. यहां प्रकृतमें केवल दो बातें जान लेनी जरूरी हैं.

(१) विमर्शकार वित्तप्रदानके अनेकविध शास्त्राभिमत प्रकारोंसे या तो सर्वथा अनवगत है या अधीत विषयोंको भूल गये लगते हैं या स्वार्थवश जानबूझ कर वास्तविकताको छिपाना चाहते हैं. अन्यथा अविभक्तस्वत्ववालोंका एकदूसरेको वित्त देना, स्वस्वत्वत्यागरूप या परस्वत्वोत्पादनरूप न होनेसे, ‘वेतन’पदके प्रयोगसे पतिद्वारा पत्नीको सेवार्थ दिये जाते वित्तदानके वारण करनेकी आवश्यकता ही क्या थी? तिसपर भी मुखिया-भीतरियाकी बटालियनको पगारके रूपमें दिये जाते वित्तको भावप्रत्ययके कुविमर्शसे “वेतनबुद्धि रखकर दिया गया वित्त दोषावह होता है; आजीविकार्थ नहीं” —ऐसा और कहते हैं. इससे अधिक अकाण्डताण्डव और क्या हो सकता है?

यदि सेवार्थ वेतनबुद्धि रखकर वित्त देने-लेनेपर ही दोष होता हो; अन्यथा नहीं तो कोई धनिक वणिक् उसके घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीकी सेवामें किसी धनहीन या धनलोलुप गोस्वामी महाराजको मुखिया या भीतरिया के रूपमें नियुक्त करना चाहें और कहें कि “वेतन नहीं, प्रतिमास आपके चरणारविन्दोंमें १००० या २००० भेट धर दी जायेगी” तो वह आचार्यवंशजोंके स्वरूपविचारसे निन्दनीय कथा होगी कि अभिनन्दनीय? क्योंकि बनियाके घरमें भी तो भगवत्सेवा करने ही जाना है; बनियाकी सेवा करने तो नहीं. और भगवत्सेवा स्वगृहमें ही करनी और परगृहमें नहीं करनी ऐसा भी कोई सैद्धान्तिक बंधन तो विमर्शकारने स्वीकारा नहीं है. इस तरह गोस्वामी महाराजोंको मुखिया-भीतरियाके रूपमें नियुक्त करके दर्शनार्थी जनतासे कोई बनिया उसके सेव्यस्वरूपकी सेवाके नित्यक्रमार्थ मंगलभोग-पलना-राजभोग आदिकी भोग-सामग्री स्वीकारे, हिंडोला-फूलमंडली आदिके मनोरथोंकी भी सेवा ले तो उस अवस्थामें भी, दर्शनार्थी क्योंकि परिवारजन या गुरुशिष्यान्यतर नहीं हैं अतः, स्वयं नहीं ले सकता हो तो न लें परन्तु उसके घरमें बिराजमान प्रभुके लिये क्यों नहीं ले सकता उपायनीकृत भेट-सामग्री? और क्योंकि बनियाके घरमें बनियाकी आज्ञासे बनियाके पुष्टिप्रभुकी सन्तोषजनिका सेवार्थ उपाहृत भेट-सामग्रीपर भी बनियाका भी पूर्ण अबाधित स्वत्व तो, कुविमर्शनीतिवश, होगा ही. अतः उससे, महाराज जैसे कीर्तनियाको देते हैं वैसे ही, वह बनिया गोस्वामी महाराजोंका भी परिपालन क्यों नहीं कर सकता है? वेतनबुद्धिसे न देकर चरणारविन्दमें रखनेकी शर्त तो स्वीकृत है ही! यदि “कोई महाराज इतने अर्थकार्श्यसे पीडित नहीं होता अतः ऐसा प्रस्ताव स्वीकारेगा नहीं ही” यह सफाई दी जाती है तब तो स्वीकारना पडेगा कि गोस्वामिओंके यहां आते मुखिया-भीतरिया अर्थकार्श्यवश ही भगवत्सेवाकी नौकरी तथा पगार स्वीकारते हैं. तब तो वेतनबुद्धि अकाम गलेपतित है!

(२) रही बात “ ‘वेतन’ वित्तदानका उपलक्षण या उदाहरण हो नहीं सकता, परन्तु ‘वित्तं दत्वा’विधानका प्रभुचरणाभिप्रेत निष्कृष्ट अर्थ या विशेषण है” —ऐसे कुविमर्शकी. तो वहां यह अवधेय है कि मैंने कभी भी इस आशयमें उसे उपलक्षण नहीं कहा कि वेतनदानकी विशेषोक्तिद्वारा वित्तदानकी सामान्योक्ति अभिप्रेत है. अतः विमर्शकार यहां अज्ञान एवं अनवधान से विजृंभित नितान्त हास्यास्पद विधान कर बैठे हैं : “पूर्वपक्षियोंका कथन अप्रामाणिक है. श्रीपुरुषोत्तमजीने ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ इस वाक्यमें उदाहरणबोधक ‘तद्यथा’ आदि शब्द नहीं लिखा है. अतः उन्होंने उदाहरणके रूपमें ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ लिखा है —यह बात स्वीकारी नहीं जा सकती. ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ यह ‘वित्तं दत्वा’का उपलक्षण है यह कहना हास्यास्पद है. क्योंकि जब मूलमें ‘वित्तं दत्वा’ है ही तब कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उसके उपलक्षणके रूपमें ‘वित्तं वेतनत्वेन दत्वा’ यह नहीं लिखेगा.” (पृष्ठ १३२).

इस परमकाष्ठापन्न हास्यास्पद कुविमर्शके बारेमें क्या कहना समझमें नहीं आता! तृतीया विभक्तिके ११ अर्थ विद्वानोंने स्वीकारे हैं : (१) कर्तृत्व (२) करणत्व (३) वृत्तित्व (४) विशेषण (५) उपलक्षण (६) कारकहेतुत्व या ज्ञापकहेतुत्व (७) फल (८) अभेद (९) अवच्छेदकत्व या अवच्छेद्यत्व (१०) अधिकरणत्व (११) वैशिष्ट्य. इनमें “रामेण बाणेन हतो बालिः”की तरह कर्तृत्व-करणत्वकी तो यहां संभावना ही नहीं. इसी तरह “अक्ष्णा काणः” की तरह वृत्तित्व अर्थ भी उपपन्न नहीं होगा. “इत्थंभूतलक्षणे = कंचित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्” और क्योंकि कोई भी लक्षण या प्रकार विशेषण भी हो सकता है या उपलक्षण भी. यथा “ज्ञायमानत्वेन लिंगं करणम्”के उदाहरणमें ज्ञायमानता ‘अतद्व्यावर्तक’विशेषण है और लिंग विशेष्य. इसी तरह “जटाभिः तापसः”

उदाहरणमें जटा तापसका उपलक्षण होती है. उपलक्षण ''अतद्व्यावृत्त्यनवच्छेदकत्वे सति अतद्व्यावृत्तिसमानाधिकरण'' होता है. क्योंकि वस्तुतः अन्यूनातिरिक्तवृत्ति होनेके कारण तापसके मुख्य लक्षण तो शमदमादि ही किसी व्यक्तिको तापस बनाते हैं. शमदमादि साधनाकी प्रक्रियामें यदृच्छया बढी जटाएं नहीं. जटाओंके अतापसव्यावृत्तिकी अनवच्छेदिका होनेपर भी अतापसका व्यावर्तन तो जटाओंद्वारा होता ही है. अतः जटाएं उपलक्षण बन जाती है.

प्रकृतमें 'वेतनत्व'को वित्तदानका विशेषण मानना या उपलक्षण — इस विषयमें विमर्शकारकी किसी तरहकी विप्रतिपत्ति होनी कोई अनुचित कथा नहीं. परन्तु अनवधानविजृंभण या अज्ञानविजृंभण की पराकाष्ठा तब होती है कि जब एक और विमर्शकार पृष्ठ ४ पर स्थित अनुच्छेदका अनुशीर्षक दे रहे हैं : ''वेतनत्वेन यह विशेषण क्यों?'' और पृष्ठ ५वें तक उसकी उपपत्ति दे रहे हैं कि वेतनत्वाविशिष्ट वित्तदानको निषेध्यकोटिमें नहीं गिनना चाहिये क्योंकि वेतनत्वविशिष्ट वित्तदान ही श्रीपुरुषोत्तमजी तथा श्रीप्रभुचरण के वचनोंकी एकवाक्यतासे निष्कृष्ट अर्थ है. और देखिये! १०-२० पृष्ठ बाद नहीं; इसी ५वें पृष्ठपर स्थित अनुच्छेदका अनुशीर्षक है : ''क्रीत एवं विक्रीत सेवाएं मानसीसाधक तनुजाके अन्तर्गत नहीं.'' (!) ईश्वर-अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान!

क्या ''वेतनत्वेन वित्तदान'' और ''मूल्यत्वेन = क्रयत्वेन वित्तदान'' और ''स्तोमत्वेन वित्तदान'' और ''सेवकीत्वेन वित्तदान'' और ''चरणभेट-पधरावनीभेटत्वेन'' और ''देवलकप्रसादनार्थ मंगला-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी भेट-सामग्रीत्वेन वित्तदान'' आदि सभीमें ''सर्वं सर्वमयम्''का शुद्धाद्वैत है? यदि नहीं तो भृत्यको वेतन दिया जाता है, विक्रेताको मूल्य या क्रयोपयिक वित्त, भूमि या गृहके वास्तविक स्वामीको खेती-कारखाना-दुकान-ऑफिस-मकान-घर आदिका स्तोम = भाडा दिया जाता है, किसीकी सेवाभक्तिसे प्रसन्न होकर सेवकीत्वेन वित्तोपहार या वस्तूपहार सेवकको दिया जाता है. गोस्वामी भी क्या भगवत्सेवा नहीं करते? यदि करते हैं तो उन्हें सेवकी क्यों नहीं दी जाती? यदि कहा जाये कि वैष्णव धनपति स्वयं अन्तमें महाराजश्रीओंके सेवक हैं अतः महाराजश्रीओंको अपना सेवक तो मान नहीं सकते. तब भी महाराजश्रीको भगवत्सेवामें परायण होनेके कारण भगवत्सेवक तो मान ही सकते हैं. अतः जैसे मंदिरके मुखिया-भीतरियाको देते हैं, वे भी धनपतिके सेवक तो नहीं होते, तो ऐसे भगवत्सेवकोंमें पू.पा.महाराजश्रीके प्रसादनार्थ उन्हें भी निरपेक्ष सेवकी क्यों नहीं दे सकते? यदि कहा जाये कि महाराजश्री गुरुकल्प होते हैं अतः उनकेद्वारा स्वधर्मतया अनुष्ठित भगवत्सेवापर प्रसन्न या अप्रसन्न होनेका अधिकार भगवानका ही होता है, सेवकोपम शिष्योंका नहीं तो फिर गुरुत्वोपाधिसे दैनिक चरणभेट—बहुधा पधरावनीभेट-प्रदेशभेट-जन्भदिनभेट-

उपनयनभेट-विवाहप्रस्तावभेट- उनके खवास जलघरिया आदिओंको खवासी-सेवकीकी भेट आदि अनेकानेक प्रकारोंमें सेवककल्प अनुगामिनी जनता स्ववित्तदानद्वारा गुरुकल्प महाराजश्रीओंका प्रसादन तो कर ही रही है. तो ''अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्''न्यायसे केवल स्वाराध्य भगवत्स्वरूपार्थक अतः परवित्तैषणा न रखें तो बहोत हानि नहीं होनी चाहिये. क्योंकि ''परद्रव्याण्यभिध्यायन् तथानिष्टानि चिन्तयन् वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु...अदत्तदाननिरतः परदारोपसेवकः हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेषूपजायते'' (याज्ञ.स्मृ.प्राय.४।१२४-१२६). यदि कहा जाये कि अन्य अनेक विधाओंसे वित्तदान करनेपर भी जब तक गोस्वामी महाराजश्रीओंके आराध्यको देवनिमित्तक या देवसंप्रदानक वित्तदान शिष्यगण नहीं करते तब तक महाराजश्रीओंका उतना प्रसादन नहीं हो पायेगा. क्योंकि सेव्यसन्तोषजनिका महावैभवशालिनी सेवा किये बिना महाराजश्रीओंका मन भरता ही नहीं है. तदुपयोगि वित्त पूर्वोल्लिखित चरणभेट आदिके अनेकानेक वित्तोपार्जनके प्रकारोंके बावजूद उस खर्चेका बोझा महाराजश्री उठा नहीं पाते हैं.

तो भी कुछ अधिक चरणभेटप्रदानार्थ, कुछ अधिक पधरावनीभेटप्रदानार्थ, कुछ अधिक प्रदेशभेटसंग्रहार्थ स्वतः अथवा स्वाश्रित समाधानिओं जैसे एजेंटोके द्वारा वैष्णवोंको प्रेरित करनेपर अधिक वित्तसंग्रह भी अवश्य शक्य है ही. परन्तु यदि कहा जाये कि उसमें वैसी निस्पृहता अथवा सरलता नहीं निभेगी जैसी सरलतासे अपने ठाकुरजीके नामपर नित्य-नैमित्तिक सेवामनोरथोंकी भेट-सामग्रीके रूपमें परवित्तग्रहण करनेपर पू.पा.महाराजश्रीओंका प्रसादन हो पाता है. तब तो फिर यह निश्चित हो गया कि ''देवलकप्रसादनार्थ मंगला-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी भेट-सामग्रीत्वेन वित्तदान'' भी एक पृथक ही प्रकार है!

अतः ''सर्वं सर्वमयम्''न्याय तो स्वयं विमर्शकार को भी मान्य नहीं तब ''भृत्यसंप्रदानक वेतनत्वेन वित्तदानात्मिका सेवा'' और ''सेवारूपकर्मविक्रेतृसम्प्रदानक मूल्यत्वेन वित्तदानात्मिका सेवा'' एक ही प्रकारकी सेवा नहीं होती. क्योंकि भृत्य होना और विक्रेता होना एक ही बात नहीं है. ऐसी स्थितिमें मुखिया भीतरिया आदि भृत्योंको दिये जाते वेतन तथा स्वाराध्य भगवत्स्वरूपकी सेवाके विक्रेता पू.पा.महाराजश्रीओंको दिये जाते सेवामूल्य तथा सेवकोंको दी जाती एतन्निरपेक्ष सेवकी में एकवद्भाव कैसे किया जा सकता है? क्योंकि स्वयं विमर्शकारको 'वेतनत्व' वित्तदानरूप विशेष्यके विशेषणतया अभिमत है, उसे मूल्यप्रदानपूर्वक सेवाक्रय तो नहीं माना जा सकता. शमदमादिसाधनाकी प्रक्रियामें यदृच्छया अभिवृद्ध जटाओंकी तरह सेवा कर्ममूल्यत्वेन दीयमान वित्तमें यदृच्छया अभिवृद्ध वेतनत्वबुद्धि या क्रयबुद्धि के निवारणार्थ ही यहां 'वेतनत्वेन' पदप्रयोग श्रीपुरुषोत्तमजीने किया है ऐसा स्वीकार लेते हैं तब तो घट्टकुटीमें प्रभात हो गया! क्योंकि स्वयं

विमर्शकार 'वेतनत्व'को विशेषण नहीं प्रत्युत उपलक्षण ही मान रहे हैं, और बावजूद इसके उसका प्रत्याख्यान भी करते हैं! तो जो स्वविवक्षितार्थावबोधक्षम न हो उससे अन्यविवक्षितार्थावबोधक्षमता की अपेक्षा क्या रखनी!! और ऐसी स्थितिमें शास्त्रविवक्षित गंभीरार्थावबोधकी अपेक्षा तो केवल मृगतृष्णा ही सिद्ध होगी!!!

इससे सिद्ध होगा है कि 'वेतनत्व'पद वित्तदानका उपलक्षण ही है. अतः जटाएं जैसे प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदक शमदमादि साधनसे भिन्न होनेपर भी कहीं विद्यमानतया और कहीं अविद्यमानतया भी व्यावर्तक बन जाती हैं, ऐसे ही 'वेतनत्व'रूप उपलक्षणसे सामान्य वित्तदान नहीं किन्तु अन्य भी वेतनसदृश; अर्थात् स्तोमत्वेन, मूल्यत्वेन, दक्षिणात्वेन, सन्मुखभेटत्वेन, सामग्रीभेटत्वेन, मनोरथभेटत्वेन आदि अनेकानेक वित्तदानके, प्रकार भी यहां विवक्षित हैं ही. ऐसी स्थितिमें तृतीया विभक्तिका अर्थ विशेषण लेनेपर 'वेतनत्वेन वित्तदान'का अर्थ वेतनत्वविशिष्ट वित्तदान होगा. ऐसे ही उपलक्षण अर्थ लेनेपर 'वेतनत्वोपलक्षित वित्तदान' भी अकथित ही सिद्ध होता है. उन अनेक प्रकारोंसे वित्तदान करनेपर वित्तग्रहण करनेपर "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न" द्वारा विवक्षित निषेध्यता आती है — यह तो स्पष्ट ही है. सेवाकर्ताको सेवाकर्तृत्वोपाधिसे न देकर पत्नीत्वोपाधि-पुत्रत्वोपाधि-गुरुत्वोपाधि-भृत्यत्वोपाधिसे जब भी कुछ भी दिया जाता है तो वह कथान्तर है. उन उपाधिओंको सेवाकर्तृत्वोपाधिके साथ "गोमयं पायसं"करनेपर तो गोस्वामी महाराजश्रीओंकी प्रसन्नताके लिये दी जाती चरणभेटको भी 'सेवकी' ही कहना उचित होगा! यह कभी भी भूलना नहीं चाहिये कि तब तो गुरुपदाधिष्ठित गोस्वामी महाराजश्रीओंके खवास-जलघडियाओंको दी जाती सेवकी भी 'गुरुभेट' ही कहलायेगी गुरुओंके पूर्ण स्वत्ववाली. इसी तरह क्योंकि अन्तमें गोस्वामी महाराजश्री भी ब्रह्मसंबंधदीक्षान्तर्गत भगवद्दास्यको अंगीकार कर चुके हैं, अतः "दासेनोढा त्वदासी या सापि दासीत्वमाप्नुयाद् यस्माद् भर्ता प्रभुस्तस्याः स्वाम्यधीनः प्रभुर्यतः दासस्य तु धनं यत् स्यात् स्वामी तस्य प्रभुर्मतः." (व्यवहारमयूख : अभ्यूप्येत्य शुश्रूषाप्रकरणस्थ कात्यायनवचन). अतः गोस्वामिओंको चरणभेटके रूपमें या गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूपकी सन्मुखभेटके रूपमें या मेहताखाना-पेढीओंमें भेट-सामग्रीके रूपमें या अन्य किसी भी रूपमें वित्त दिया जाये, सबके स्वामी गोस्वामीके प्रभु ही होंगें, स्वयं गोस्वामी नहीं; जैसीकि विमर्शकारको भ्रान्ति है.

रही बात 'वेतनत्व'के उदाहरणार्थ होनेकी, तो उसमें भी यह अवधेय है कि परार्थानुमित्यर्थ प्रयुक्त दृष्टान्त या उदाहरण एवं काव्यात्मकवर्णनार्थ प्रयुक्त दृष्टान्त उदाहरण या उपमामें 'इव' 'यथा' 'वत्' आदिका प्रयोग आवश्यक होता है. परन्तु एतावता "अपनी ममतास्पदीभूत सकल वस्तुओंका भगवानको समर्पण करना चाहिये" विधानकी व्याख्या करते हुए ममतास्पदीभूत वस्तुओंके निदर्शनार्थ यदि कोई व्याख्याकार "पुत्रत्वेन ममतास्पदीभूत" अर्थ करता हो तो वहां भी 'तद्यथा'को खोजना तो अतद्यथार्थकी ही खोज है! इतनी इतनी छोटीसी बातें तो समझाते हुवे भी लज्जा आती है परन्तु कहते-लिखते विमर्शकारको नहीं आती! किमाश्चर्यमतः परम्!! "दण्डकी दण्डत्वेन घटकारणता होती है, पार्थिवद्रव्यत्वेन नहीं"विधानमें अथवा "शर्कराकी शर्करात्वेन खीरकारणता है, इक्षुजन्यत्वेन नहीं" इन वचनोंमें दण्डत्व-शर्करात्व कारणतासामग्रीघटकके उदाहरणार्थक हैं या कारणतासामग्रीस्वरूपनिरूपणार्थक? यदि उदाहरणार्थक तो 'तद्यथा'शब्द यहां क्यों नहीं है? यदि कारणतासामग्रीस्वरूपनिरूपणार्थक तो केवल दण्ड या शर्करासे भी घट या खीर उत्पन्न हो जानी चाहिये. प्रतीत होता है परम्परया अधीत शास्त्रोंमें कहीं उदाहरणतया निदर्शनका प्रभेद विमर्शकोंके पढनेमें शायद आया नहीं होगा! अस्तु.

श्रीपुरुषोत्तमजीके बाद श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजीने 'उक्तसेवासाधने इतरे"की व्याख्यामें " 'उक्तसेवा' मानसीसेवा, 'इतरे' तनुतित्तजे"कहकर विमर्शकार और उनके सहयोगिओंको अत्यन्त क्षुद्र कुशकाशावलम्बनका अवसर तो अवश्य दिया है, इसमें सन्देह नहीं. फिर भी विमर्शकार उसपर अवलम्बित हो नहीं पाते! इसका मुख्य रहस्य तो इसीमें निहित है कि टिप्पणीकारके द्वारा प्रदत्त प्रचलित पाठ " 'इतरे' = तनुवित्तजे"के बारेमें पाठशुद्धि विमर्शकारने प्रस्तावित की है. वैसे यदि यह अशुद्ध पाठ ही हो तो संभवतः " 'इतरे' = तनुवित्ते" ही अधिक सुसंगत पाठशुद्धि स्वीकारनी चाहिये, पूर्वोक्त अनेकानेक हेतुओंके कारण. फिर भी विमर्शकारद्वारा प्रस्ताविता पाठशुद्धि तो स्वयं विमर्शकारको भी विवक्षितार्थानवबोधविजृंभित ही है.

विमर्शकारके शब्दोंमें : "यहांपर 'इतरे तनुजवित्तजे' यह शुद्धपाठ है. 'इतरे तनुवित्तजे' यह प्रकाशित पाठ अशुद्ध है. क्योंकि 'तनुवित्तजे'पदका विग्रह इस प्रकार होगा :(१) तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते, तनुवित्ताभ्यां जाता तनुवित्तजा, तनुवित्तजा तनुवित्तजा च तनुवित्तजे अथवा (२) तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते, तनुवित्ताभ्यां जाते तनुवित्तजे. एवं च 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियमके अनुसार 'तनुवित्तजे'पदसे दो-दो तनुजा वित्तजा सेवाओंका बोध होगा." (पृष्ठ ११८).

यहां इस विमर्शग्रन्थकी सबसे बडी एक कॉमॅडी उभरी है! विमर्शकार स्वयं यह तो कह नहीं रहे हैं कि सेवात्रैविध्यवादी सभी गोस्वामी स्वयंके वित्तका विनियोग अथवा स्वयंके तनुका विनियोग अपने आराध्यकी सेवामें करते ही नहीं है. फलतः सेवात्रैविध्यवादी गोस्वामिओंद्वारा अनुष्ठित स्वतनु-स्ववित्तजन्य भगवत्सेवा एक तनुवित्तजा. इसी तरह विमर्शकारद्वारा सिद्धान्ततया अभिमत दर्शनार्थिओंके

द्वारा उपाहृत सन्मुखभेट तथा महेताखाना (पेढीमें) जमा होती मंगलभोग*-पलना-राजभोग-फूलमंडली-छप्पनभोगकी भेट-सामग्रीरूपा वित्तजा सेवा तथा मुखिया-भीतरियाकी बटालियनोंद्वारा अनुष्ठित तनुजासेवा —यों दूसरी तनुवित्तजा. अतः "तनुवित्तजा च तनुवित्तजा तनुवित्तजे सेवे" तो अभीष्टतम है ही फिर भी क्यों अभीष्ट नहीं माना है? अतः "स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता"रूप मिथ्यात्व विमर्शाभिमत निरूपणका सिद्ध होता है!

इसके अलावा भी एककर्तृका मानसीसाधिका तनुवित्तजासेवा तथा मानसी-अबाधिका अनेककर्तृका तनुवित्तजा सेवा —यों दो तरहकी तनुवित्तजा तो स्वयं विमर्शकार डिंडिमघोषसे कह रहे हैं. फिर भय, ऐसा लगता है कि, केवल त्रैविध्यप्रतिज्ञाहानिको ही होना चाहिये! तो परम्परयाधीत ग्रन्थोंके पुनरभ्यासद्वारा आगामी संस्करणोंमें त्रैविध्यकी जगह "याश्च ह्यनन्तस्य सेवाः ह्यनन्ताः"पक्ष प्रस्तावित कर देना चाहिये! हानि क्या है; वैसी भी अध्ययनपरम्परा स्तोत्रादिनिर्माणद्वारा भी प्रचारित तो हो ही जायेगी!

इसी तरह प्रभुचरणकृतविवृतिके "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्"अंशकी श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजी की टिप्पणीके आशयोंके साथ विमर्शकारने जो बाललीला प्रदर्शित की है उसका भी आनंद लेने लायक है :

"एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्" इस श्रीप्रभुचरणोंके वाक्यमें 'तत्साधिके' यह पद आया है उसका अर्थ 'फलरूपसेवासाधिके' किया है और आगे स्पष्टीकरण किया है कि "तथा चैककर्तृकएव ते तत्साधिके इति फलितार्थः." "एककर्तृके एव ते तत्साधिके" इस वाक्यमें 'ते'शब्दसे मानसीसाधन तनुजा वित्तजा सेवाएं ग्राह्य हैं. 'तनुवित्तजा' इस समस्तपदसे दोनों (तनुजा और वित्तजा) सेवाएं एककर्तृक होनी चाहिये, अर्थात् तनुजा और वित्तजा सेवाओंको करनेवाला एक हो —यह सूचित किया गया है. ऐसी स्थितिमें "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न" इस वाक्यमें 'ते'शब्दसे वे ही सेवाएं ली जायेगी जो मानसीसाधिका न होती हों. अब जो व्यक्ति अपने शरीरसे भगवत्सेवा करता है और अपने धनका भी भगवत्सेवामें विनियोग (वैसे आधुनिक श्रीवल्लभवंशज तो प्रायः करते नहीं; उन्हें तो दर्शनार्थिओंके ही वित्तसे भगवत्सेवा करनी सुहाती है : गो.श्या.म.) करता है उसने सेवाक्रम विस्तृत होनेसे नौकर-चाकरोंको रखा और उन्हें मजूरी देकर उनसे सेवा कराई. वहांपर मजूरी देकर करायी गयी सेवा मजूरी देनेवालेकी वित्तजा है वह मानसीसाधन वित्तजाके अन्तर्गत हो सकती है. उसे मानसीसाधन वित्तजाके बहिर्भूत करनेमें कोई प्रमाण नहीं है. तो वह सेवा भी "एतादृश्यौ ते" इन दो सेवाओंमेंसे प्रथमसेवामें आ जाती है. अर्थात् "वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका" कहकर आयी उसमें मानसीसाधकता नहीं यह कहना बाधित है. तब श्रीप्रभुचरणोंने किस आशयसे "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न" कहा यह प्रश्न उठता है. उसका उत्तर यह है कि 'ते'पदका अर्थ 'तनुजे' कर उसे 'एतादृश्यौ' और 'तत्साधिके' इन दोनोंमें अन्वित करनेसे समाधान हो जाता है...तदनुसार निष्कर्ष निकला कि खरीदी हुई तनुजा और बेची हुई तनुजा मानसीसेवासाधन तनुजा नहीं इस अभिप्रायका ज्ञापक 'तनुवित्तजा' यह समस्त पद है." (विमर्श पृष्ठ : १२१-१२२).

यहां सर्वप्रथम तो यह विचारणीय है कि "उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुः तदिति" अंशकी कुविमर्शसंशोधित टिप्पणीके अनुसार भी शुद्ध पाठ होगा "इतरे = तनुजवित्तजे इति आहुः तत् (सिद्ध्यै तनुवित्तजा) इति." अतः प्रक्रान्त सेवा तनुजा वित्तजा हुई. उन वित्तजा और तनुजाके अन्तर्गत किसी दूसरे पुरुषको वित्त देकर करायी गयी सेवा, सेवाका एक प्रकार है, जिसे श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी एक स्वरमें 'वित्तजा' कह रहे हैं. इसी तरह दूसरे किसीसे वित्त लेकर की गयी सेवा, सेवाका अपर प्रकार है, जिसे श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी एक स्वरसे 'तनुजा' कह रहे हैं. इस तरह पूर्वप्रक्रान्त तनुजा और वित्तजा को उद्देश्य बनाकर उनके मानसीकी असाधिका होनेका विधान "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न"द्वारा हो रहा है. इसका प्रमाण श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजी दोंनोंके द्वारा समानतया प्रदत्त निष्कर्षनिरूपक वचन है "तथा च एककर्तृके एव ते तत्साधिके." बावजूद इसके पूर्वप्रक्रान्त तनुजा एवं वित्तजा मेंसे वित्तैकचित्त होकर वित्तजाको अनिषिद्ध बनाना हो तो समानन्यायसे तनुजाको भी अनिषिद्ध मानना पडेगा. क्योंकि सेवाके विस्तृत प्रकारके निर्वाहार्थ मुखिया भीतरिया बालभोगिया दूधघरिया जलघडिया कीर्तनिया पखावजिया हारमोनिया झापटिया फूलघरिया पानघरिया समाधानी भेटिया की बटालियनको मजूरी महाराजोंको देनी पडती है. इसी तरह दर्शनार्थिओंको भी अपने गाममें पू.पा. (देवलक) महाराजश्रीको भगवत्सेवार्थ सन्मुखभेट मनोरथभेट महेताखानामें भेट-सामग्री आदि अनेक रूपोंमें वित्त देना ही पडता है. जैसे मुखियाओंसे तनुजासेवा करवानेको महाराजोंद्वारा की गई वित्तजा सेवा दोषावह नहीं, ऐसे ही पू.पा.महाराजश्रीओंसे तनुजासेवा करवानेको बनियाओंद्वारा की गई वित्तजासेवा भी दोषावह तो नहीं है. फिर जैसे मुखिया आदि सेवाका विक्रय नहीं करते क्योंकि वे वेतनबुद्धिसे वित्त नहीं ले रहे हैं, किन्तु सेव्यसुखार्थ ही, वैसे ही वैष्णव बनिया भी (देवलक)गुरुबुद्धिसे ही देते हैं तथा पू.पा.गुरु

---

*मेरे पास इसकी रसीदें सुरतकी मोटी हवेलीकी तथा यहां मुंबईकि यदुनाथभुवन मंदिरकी क्रमशः स्वीकृतिप्रयोजनोल्लेखरहित नं.३२९८ तथा स्वीकृतिप्रयोजनोल्लेखसहित नं.२४४० हैं. वैसे समाधानीने केसेटमें स्वीकृत किया है कि श्रीबालकृष्णलालजीके मंगलभोगके लिये यह राशि स्वीकारी गई है.

भी उसे छलकपटके बिना केवल स्वसेव्यप्रभुसन्तोषजननबुद्ध्या ही लेते हैं. ऐसी स्थितिमें यह क्यों नहीं कहा जाता कि वेतनबुद्ध्या प्रदत्त वित्तप्रदाताकी वित्तजा तथा वेतनबुद्ध्या ग्रहीत वित्तग्रहीताकी तनुजा —यों वित्तजा और तनुजा दोनों ही सेवाओंका यहां निषेध हो रहा है. एतावता श्रीपुरुषोत्तमजीके साथ श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजीकी एकवाक्यता भी सिद्ध हो जायेगी. फिर व्यर्थ ऐसे द्राविडप्राणायामके कुविमर्शकी आवश्यकता क्या है? जहांतक श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजीद्वारा प्रदत्त फलितार्थ कि “एककर्तृके एव ते फलरूपमानससेवासाधिके”की भी उपपत्ति विमर्शकारने पृष्ठ १२२-१२३ पर दे ही दी है कि छलकपटरहित होकर सेवा करना ही अपना मुख्य सिद्धान्त है. अन्यथा इतने वैभवविस्तारसे सेवा हो ही नहीं पायेगी!

यदि वेतनत्वबुद्धिसे वेतनदान या वेतनग्रहण दोषावह है और स्वयं वेतनदानग्रहण नहीं; तब तो मद्यबुद्ध्या मद्यपान दोषावह होगा, “सर्वं खलु इदं ब्रह्म” श्रुत्युक्त ब्रह्मबुद्ध्या नहीं. सगोत्रकन्योद्वाह भी सगोत्रबुद्ध्या दोषावह होगा, कन्यबुद्ध्या नहीं. इसी तरह अन्याश्रय भी कृष्णेतर देवोंमें द्वैतबुद्ध्या ही अन्याश्रय होगा, शुद्धाद्वैतबुद्ध्या नहीं. तब इतरसंप्रदाय भी द्वैतबुद्ध्या ही अननुसरणीय होंगें, सर्वबुद्धिप्रेरककृष्णप्रेरित धर्मबुद्ध्या नहीं. और तब तो —“आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा”की अनुभूति हो ही जायेगी!

प्रतीत होता है कि ८४ तथा २५२ वैष्णवोंमें जो अकिंचन होनेपर भी तनुवित्तजा कर रहे थे उनमें अपने सेव्यको सन्तुष्ट करनेकी छलकपटरहित भावना ही नहीं थी! अन्यथा वे भी इस तरह व्यावसांयिक मंदिर स्वसेव्यसन्तोषार्थ चलाकर उनमें दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे मुखिया-भीतरियाओंकी फौज रखकर स्वसेव्यसन्तोषजनिका वैभवपूर्ण सेवा क्यों नहीं करते! विमर्शकारोक्त सारेके सारे स्पष्टीकरणद्वारा कि शिष्टाचारप्राप्त महद्विमृग्य भक्तिप्रकार तो उसे भी कहा ही जा सकता! इससे सिद्ध होता है कि ८४-२५२के अन्तर्गत जितने भी निष्किंचन भगवदीय तनुवित्तजा सेवा करनेवाले थे वे उत्तमाधिकारी नहीं रहे होंगें!! कमसे कम श्रीवल्लभवंशज आधुनिक पू.पा.गोस्वामिओंकी तुलनामें तो अवश्य ही हीनाधिकारी पुष्टिजीव होंगें!!!

इसके बाद श्रीलालुभट्टजीने, यद्यपि, “भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन मनःकल्पनम्”-“अहैतुकक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे”-“गृहशुश्रुषणं मह्यं दासवद् यद् अमायया”-“सर्वलाभोपहरणम्” वचनोंके सन्दर्भमें शब्दतः तनुजा एवं वित्तजा सेवाओंका पृथक्-पृथक् निरूपण किया है, परन्तु “एककर्तृका (तनुजा+वित्तजा) = तनुवित्तजा”सूत्रको हृद्गत रखकर ही किया है. यह उनके आगामी अंशगत “ ‘ततः’ = तनुवित्तजसेवातएव”व्याख्यानसे सुस्पष्ट है.

श्रीद्वारकेशजीकी व्याख्या या तो विमर्शकारने देखी ही नहीं है या देखकर भी अनजान बने रहना चाहते हैं. अन्यथा विमर्शकारके पक्षका इससे अधिक सक्षम प्रत्याख्यान तो श्रीपुरुषोत्तमजीकी टीकाके आधारपर भी शक्य नहीं है. यहां उल्लेखनीय है “द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते” इस व्याकरणनियमका ‘तनुवित्तजा’पदके व्याख्यानार्थ प्रयोग करनेवाले मूलतः श्रीद्वारकेशजी हैं.

श्रीद्वारकेशजीके अनुसार चित्तकी भगवत्प्रवणतासिद्धिके लिये तनुवित्तजा ही करणीय है. वे कहते हैं :

“टीकायां समस्तपदमिति ‘तनुवित्तजा’ इति समस्तम्. तनुश्च वित्तं च ‘तनुवित्ते’ ताभ्यां ‘जा’ता = कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा = ‘तनुवित्तजा’. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च.”

इससे सर्वथा करतलामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि श्रीद्वारकेशजी तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपगत ऐक्यको खण्डित करनेको तनुजा और वित्तजा का द्वन्द्वान्त नहीं सुना रहे हैं, जैसा कि विमर्शकारने कुविमर्शपूर्वक करना चाहा है. अपितु ‘तनुवित्तजा’में ‘जा’ द्वन्द्वान्तमें श्रुत होनेके कारण तनुजा और वित्तजा का तनुवित्तजाके साथ अन्वाचय कर रहे हैं,“भिक्षाम् अट गां च आनय”न्यायसे. विमर्शकारने जबकि स्वार्थमूलक अनवधानवश इस अन्वाचयार्थ प्रस्तुत गौण तनुजा और वित्तजा के कल्पसे प्रधान तनुवित्तजाकी प्रधानताको खतम करनेकी अभक्तिमयी अज्ञानमयी तथा क्षुद्रस्वार्थैकपरायणा अपनी मनोवृत्ति उजागर कर दी है! न केवल इतना अपि तु श्रीद्वारकेशजी जहां मानसीसेवाकी सिद्धिके लिये प्रधान तनुवित्तजा तथा तदानुषंगिक तनुजा और वित्तजा को मानसी सेवाके अवान्तरफल ब्रह्मबोधकी तथा संसारनिवृत्तिकी सिद्धिदायिनीके रूपमें ही प्रस्तावित करना चाहते हैं. इसका आगे खुलासा करेंगें. बिचारे श्रीद्वारकेशजीको इसकी लेशमात्र कल्पना भी नहीं होगी कि उनके इस “व्याख्याविन्यासवैचित्र्य”के कारण आगामी पुष्टिमार्गियोंमें ऐसी कुमति प्रकट हो जायेगी कि अंगानुष्ठानार्थ प्रधान अंगीके विलोपनकारी विमर्शकारसदृश पक्षधर (मिश्र) प्रकट हो जायेंगें!

इसके बाद श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्याका गुजरातीमें अनुवाद तथा सारांश देनेवाले श्रीविट्ठलरायजी तथा श्रीनरसिंहलालजी यहां क्या कहना चाहते हैं वह भी देख लेना चाहिये. श्रीवल्लभजी तथा श्रीव्रजनाथजीकी टिप्पणी में हम देख चुके हैं कि “एककर्तृके तनुजवित्तजे सेवे” = “तनुवित्तजा” और “तनुवित्तजा” = “एककर्तृके सेवे” मान्य समीकरण है. तदनुसार एककर्तृक तनुवित्तजसेवाद्वय अथवा एक तनुवित्तजा सेवा ही मानसीरूप परमफलकी साधिका होती है इस अंशमें किसी भी संस्कृतभाषामें व्याख्या लिखनेवालोंको मतभेद नहीं है. वैसे ही यथारुचि व्याख्यानशैलीका भेद इन गुर्जरभाषामें तथा व्रजभाषामें व्याख्यानकर्ताओंका भी

स्पष्ट दिखलाई देता है. व्याख्येय अनुष्ठानके प्रकारमें तो मतभेदका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है. तदनुसार सर्वप्रथम श्रीविठ्ठलरायजीने यद्यपि "चित्त भगवानमां प्रवण थवुं तेनुं नाम सेवा. ते थवासारु तनुजा अने वित्तजा करवी." कहकर "तेथी साध्यरूपी मानसीनो सार कहीने साधनरूपी सेवानी वात करे छे. एम श्रीगुसांईजी जाणीने आगला पदनुं वर्णन करे छे के कहेली जे मानसी सेवा तेना साधनो बे बीजा छे. वळी मूलमां श्रीआचार्यजीए आज्ञा करी छे के चित्तनुं प्रवण थवुं ते मानसी अने मानसी सिद्ध थवासारु तनुजा अने वित्तजा छे." यहां तनुजा एवं वित्तजा का पार्थक्य कण्ठतः निरूपित किया है परन्तु यह पार्थक्य व्याख्यानोपयिक है या अनुष्ठानोपयिक इसका खुलासा उनके अगले अनुवादसे हो जाता है : "ए कहेली रीते कराय छे जे साधन तनुजा वित्तजा; अने ए परिपाकदशामां स्नेहथी कर्या करे त्यारे ए साधन छे — ते जो रोजगार*पणाए पैसो आपीने करावे ते चित्तने रजोगुण पेदा करीने आपणा चित्तने भगवानमां प्रवणपणुं करती नथी. त्यारे जो पैसो आपनारने सेवा थई तेणे रजोगुण पेदा कर्यो तेणे करीने तत्प्रवणरूपी फल न थाय. तेमज पैसो रोजगारपणाथी (विमर्शकाराभिमत केवल वेतनत्वेन नहीं अपितु वृत्त्यर्थ भी) लईने शरीरथी सेवा करे तो जेम ऋत्विजो एटले होम करनारा ब्राह्मणो करे तेने यज्ञनुं फल मळे नहीं. तेम ए रोजगार लईने सेवा करनारने तत्प्रवणरूपी फल न थाय. वादी शंका करे छे के जेम ऋत्विजो पैसो लईने होम करे छे ते होम करनारने फले छे तेम आंई पैसो आपनारने फलशे! एवी शंका न करवी केमके त्यांहा ऋत्विजोने दान (भृतकको वेतनत्वेन नहीं अपितु अभृतक ऋत्विजोंको शास्त्रविहित कर्मदक्षिणारूप एक विलक्षण दानप्रकारत्वेन) आपवुं अने वरण करवुं, एम भक्तिमार्गमां भगवाने नथी कह्युं तेथी न करवुं. भक्तिमार्गमां तो जेम भगवाने रीत कही छे तेम करवी. त्यारे ज साधनरूपी तनुजा वित्तजा पोते फलने पेदा करती पोते फलरूप थई जाय. हवे श्रीपुरुषोत्तमजीए जेनी टीका करी ते श्रीगुसांईजीना वाक्य छे जे पैसा आपीने सेवा करावावी ते एक अने पैसो लईने सेवा करवी ते बीजी ए बे सेवा ते मानसीसेवा सिद्ध करती नथी (अर्थात् क्रीत-विक्रीत यों दो तनुजा नहीं प्रत्युत तनुजा और वित्तजा) ए बतावावासारु समासवाळुं पद छे. एणे करीने निरउपाधीनी रीते पोतानुं सर्वस्व भगवानमां निवेदन करीने पोतानो देह पण भगवानमां लगाडवो. एम करवाथी एना मनमां एम आवे जे हवे म्हारूं कोण छे? म्हारा भगवान छे अने एम थाय जे आ देह अने पैसो (अर्थात् तनु और वित्त ही तत्साधन हैं; तनुजा-वित्तजा नहीं. :गो.श्या.म.)

---

*(केवल 'वेतनत्वेन' ही नहीं अपितु द्रष्टव्य :"रोजगार" = गुजरानमाटे करवानो धंधो, नोकरी के उद्यम :गुजरातविद्यापीठप्रकाशित जोडणीकोश).

भगवानमां लगाडवा. ते ज्यारे थाय त्यारे एने प्रेम थयो तेथी मानसी सिद्ध थाय." (संवत् १९४८में ठ.दयालमूलजीद्वारा बोम्बे सीटीप्रेसमें मुद्रित कराकर प्रकाशित की गई प्रतिमें पृष्ठ: १९,२२ तथा २३-२५).

बडोंने मानसीसेवारूप फलकी सिद्धिमें निजतन-निजधनका केवल कारणसामग्रीघटक होना ही नहीं निरूपित किया है परन्तु वृत्त्यर्थ भगवत्सेवन उपधर्म है यह भी निरूपित किया है. कमसे कम सौ वर्षपूर्व हुए श्रीविठ्ठलरायजीको तो परम्पराप्राप्त अध्ययनकी दुहाई देनेवाले विमर्शकारकी तरह इस विषयमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है. अतएव वे कहते हैं : "सेवा कथा विगेरे करतो होय ते लाभसारु अने म्होटाई (पीठाधीशत्व) करतो होय ते उपधर्म छे...उपधर्म ते पाखंड त्यारे उपधर्मथी देवलकपणा विगेरे दोष पेदा थाय." (पृ.८५-८६).

इसी तरह श्रीनरसिंहलालजी भी कहते हैं— "श्रीकृष्णमें चित्त प्रथम कछूक लग्न होय, पीछे श्रीकृष्णके अधीन होय और ता पीछे श्रीकृष्णमें एकतानरूपकूं प्राप्त होय सो सेवा कही है. ऐसी सेवा सिद्ध होयवेके लिये तनुवित्तजा सेवा है. अर्थात् श्रीकृष्णमें चित्तकी एकतानता होवयेके तनुजा (शरीरसूं) तथा वित्तजा (धनसूं) सेवा है. यहां तनुजा तथा वित्तजा ऐसे भिन्न-भिन्न पद नहीं कहेते तनुवित्तजा ऐसे समस्तपद कह्यो है ताको अभिप्राय ऐसो है जो अन्यकूं मूल्य('वेतनत्वेन' अथवा केवल वेतनबुद्ध्या ही नहीं :गो.श्या.म.)रूप धन देके सेवा करावे सो वित्तजा सेवा भई; परन्तु ताकरिके राजस आय जाय तासूं मानसीसेवा सिद्ध न होय और मूल्य(वेतनबुद्ध्या ही केवल नहीं अपितु जैसे मनोरथोंके निर्धारित मूल्य लेकर पलना-फूलमंडली-छप्पनभोगके नाटक किये जा रहे हैं :गो.श्या.म.)रूप धन लेके शरीरसूं सेवा करे सो तनुजा सेवा भई. परन्तु सोहू मानसीसेवाकूं सिद्ध नहीं करे हैं. जैसे यज्ञमें जितने ब्राह्मणको वरण होय तिनकों यज्ञको फल नहीं होय है तैसे ही मूल्य लेके सेवा करे तनुजासेवाको फल (मानसी) सिद्ध न होय. तासूं भगवानमें निष्काम (अर्थात् वृत्त्यर्थ नहीं तथा पीठाधीशपदप्राप्त्यर्थ नहीं :गो.श्या.म.) स्नेह होय और शरीरसूं तथा धनसूं संग ही जो सेवा करे ताकूं मानसी सिद्ध होय." (पृ.१३३-३४). पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके तथाकथित परम्पराधीत तत्त्वोंके कुविमर्शमें जैसे विमर्शकारका कहना है उससे सर्वथा विपरीत श्रीनरसिंहलालजी महाराज भी कहते हैं— "लौकिक अर्थ इच्छा राखिकें जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हैं. इतने कछु लाभके लिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो तो पाखंडी और देवलक कह्यो जाय है." (पृ: ४४-४५). इन दोनों अंशोकी एकवाक्यता साधकर देखनेपर तनुवित्तजा जैसे मानसीकी साधिका वैसे ही तनुजा, अर्थात् सेवार्थ दूसरेका वित्त लेकर अपने देहसे की जाती सेवा, मानसीकी केवल असाधिका ही नहीं अपितु पाखंडकी मनोवृत्ति

तथा शास्त्रतः निन्दित देवलकत्ववृत्ति भी है यह सौ वर्ष पूर्वतक तो पुष्टिमार्गकी विद्वत्परम्परामें मान्य था —इतना निश्चित है. इसके बाद ८वां अंश हमें देखना है.

(८) 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्' : इस अंशपर श्रीकल्याणरायजीने एक महत्वपूर्ण बात यह कही है कि तनुवित्तजा सेवाके कारण सेवाकर्ताकि अहंताममतात्मक संसारसंबंधी दुःखकी निवृत्ति होती है अर्थात् भगवद्भजनोपयोगी अहंताममतात्मक संसार तो उपादेय ही होता है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने आधुनिक पुष्टिमार्गिओंके लिये सर्वदा अवधेय बात यह कही है कि व्रजभक्तों जैसा अधिकार न होनेपर भी मार्गप्रवर्तकाचार्यचरणोक्त प्रकारसे (अर्थात् तनुजा-वित्तजा भिन्नकर्तृक भी हो सकती है ऐसा स्वार्थवश मनघडंत अर्थ निकालकर नहीं.) अर्थात् सदुपदिष्ट प्रकारसे शास्त्रार्थको समझकर आचरणोंमें उतारना चाहिये. (स्वार्थी असज्जनोंके अपने उदरभरणार्थ निकाले गये मनघडंत अर्थको सुनकर नहीं). अतः न केवल बाह्या तनुवित्तजा अपितु आभ्यन्तरी मानसी सेवा भी यथोक्त रूपोंमें संपन्न होनेपर ही फलसाधिका होती है.

श्रीवल्लभजीका कहना है कि सेवाके ऐसे स्वरूपके निरूपणद्वारा यह सिद्ध होता है कि किसी भी फलकी आकांक्षा रखे बिना अपने (नहीं कि दर्शनार्थी जनताके) यच्च यावत् द्रव्यादिका निवेदन करके कार्यान्तरमें अपने देहको विनियुक्त किये बिना जब भगवदर्थ विनियोग हम कर पाते हैं, तब क्रमशः प्रेम प्रकट होता है; और बादमें मानसी सेवा हो पाती है. अतएव श्रीप्रभुचरणके "एतादृशस्य अवान्तरं फलं भवति इति आहुः तत इति" अंशकी व्याख्यामें "निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवद्विनियुक्तदेहस्य पुरुषस्य ततः इति साधनरूपसेवाद्वयतः" जो कहते हैं, यहां भी क्योंकि एककर्तृक भगवदपेक्षित यावत्द्रव्यसमर्पणरूपा सेवा तथा शरीरजभगवद्यावत्सेवा का सन्दर्भ निर्दिष्ट है, अतः भगवदपेक्षित द्रव्य न होनेपर या वैसी शारीरिक सामर्थ्य न होनेपर निभ नहीं पायेगी, इस आशंकाके समाधानार्थ यह पंक्ति है —ऐसा भी निरूपित करते हैं, तनुवित्तजाको केवल निरुपाधितया करनेके उपदेशार्थ नहीं जैसा कि विमर्शकारद्वारा अभिप्राय प्रस्तावित किया गया है.

यही बात श्रीव्रजनाथजी भी कहते हैं. अन्तर केवल इतना ही है कि उनके अनुसार क्योंकि एककर्तृका ही सेवा मानसीकी साधिका होती है अतः भगवत्सेवार्थ अपेक्षित यावद्द्रव्यसमर्पणार्थ तथा भगवत्सेवार्थ अपेक्षित यावत्तनुव्यापारार्थ किसीके असमर्थ होनेपर यह अशक्योपदेश हो जायेगा परन्तु यह उपदेश अशक्योपदेश नहीं है, क्योंकि सेवाको तनुवित्तजा कहा गया है अतः किसी भी फलकी आकांक्षा रखे बिना जितनी स्वयंकी वित्तसामर्थ्य हो— जितनी स्वयंकी तनुसामर्थ्य हो तदनुसार सेवा करनेपर यह मानसीकी साधिका बनती है. अतएव 'एतादृश'पदकी व्याख्यामें 'निवेदितस्वीयसर्वस्व' तथा 'भगवत्सेवाविनियुक्त'पर भार दिया गया होनेसे

अग्रिमांश "ततः'की व्याख्याके रूपमें जो साधनसेवाद्वय कहा है वहां भी एककर्तृक सेवाद्वय ही विवक्षित है —यह सभी निष्काम भक्तिमार्गियोंको समझनेमें तकलीफ नहीं होगी. सकाम तो देवलकवृत्तिका समर्थन करनेमें भी लज्जा अनुभव नहीं करता तो अधिक क्या कहना?

अतएव श्रीलालुभट्टजीने तो " 'ततः' = तनुवित्तजसेवातएव संसारदुःखस्य..." स्पष्टतया निरूपित किया है. श्रीद्वारकेशजीने यहीं श्रीवल्लभजी-श्रीव्रजनाथजीका इंगित पाकर अंगी तनुवित्तजात्वरूप अवच्छेदकसे बाह्यसेवावृत्ति मानसीसेवासाधकत्वको अवच्छिन्न माना है. इसी तरह अंगभूत तनुजात्व-वित्तजात्व अवच्छेदकोंसे ब्रह्मबोधनसाधकताको तथा संसारनिवृत्तिसाधकताको अवच्छिन्न माना है. हेतु अतीव मजेदार दिया है कि तनु पांचभौतिक होनेसे ब्रह्मात्मक है अतः ब्रह्मविनियुक्त होनेपर "गंगात्वं...तद्वदत्रापि" न्यायसे ब्रह्मात्मक होकर वैसा बोध पैदा कर देता है. इसी तरह ममतास्पदीभूत वित्त व्यामोहिकामायाका कार्य होनेसे आसुरी होता है. अतः ब्रह्मविनियुक्त होते ही ममता निवृत्त हो जाती है. ये दोनों ही मानसीसेवाके लिये हैं फिर भी तनुजा कारकहेतु बनती है और वित्तजा ज्ञापक. अतः स्वीय वित्तका अविनियोग चित्तकी अभगवत्प्रवणताका ही ज्ञापक है.

(IIII) उपसंहार

वैसे तो ८ वर्षपूर्व श्रीवल्लभस्मृति(ग्रन्थमाला)में प्रकाशित "पुष्टिने शीतल छांयडे"में विमर्शाधिकारिचतुष्टयीमेंके एक श्रीबालुराजाने भी स्वीकारा ही था कि "प्रभुनी सान्निध्यमां जे द्रव्य अथवा चीजवस्तु भेट धरवामां आवे ते देवद्रव्य कहेवाय छे. कारणके ते प्रभुने उद्देशीने ज भेट धरवामां आवतुं होय छे. आ रीते आवेलुं द्रव्य अथवा कोईपण वस्तु होय तेमां सीधुं देवलकत्व आवे छे. तेथी अग्राह्य छे...श्रीनी सन्मुख भेट धरायेलुं द्रव्य अमारी पेढीमां (महेताखानामां) जमा थतुं नथी. तेने स्पष्ट देवद्रव्य कही शकाय अने ते द्रव्यथी सिद्ध थती सामग्रीमां भगवत्प्रसादी थया पछी महाप्रसादपणुं तो आवे छे परन्तु तेनी साथे तेमां देवद्रव्यपणुं रहे ज छे. तेथी वैष्णवोए ए महाप्रसादने देवद्रव्य समजीने ज व्यवहार करवो जोईए. ते महाप्रसाद लेवामां देवद्रव्यनो बाध तो रहेलो ज छे." (पृ. १८६-१८७). इसी तरह "आवी तत्प्रवणरूपा सेवासिद्धिमां तनुजा अने वित्तजा सेवाना साहचर्यनी पण तेटली ज जरुर छे. तनुवित्तजाना योगथी ज मुख्य जे मानसी सधाय..." (पृ. २१४) इन दोनों विधानोंकी भी एकवाक्यता करनेपर स्वयं श्रीबालुराजाद्वारा श्रीवल्लभस्मृति(ग्रन्थमाला)में लिखे गये उस ग्रन्थ तथा षष्ठमीठाधीशपदलाभार्थ प्रकाशित महाप्रभु श्रीयदुनाथ(स्मृतिवश प्रकाशित)ग्रन्थप्रकाशनके इस नवम 'विमर्श'ग्रन्थमें विभिन्न परम्पराएं दृष्टिगोचर हो रही हैं! यह वदतोव्याघात भी इस सन्दर्भमें कम उल्लेखनीय नहीं है.

ऐसी स्थितिमें सिद्ध हो जाता है कि 'निरुपधिः'विशेषणका जो सोपाधिक उपयोग तनुवित्तजाके अनुष्ठानोपयिक स्वरूपैक्यके खण्डनार्थ किया है वह देवलकोंका केवल अविचारितरमणीय कुशकाशावलम्बन ही है. दूसरे शब्दोंमें प्राचीन ग्रन्थोंके अभिप्रायोंका स्वार्थानुकूल्येन लुण्ठन करनेका महासाहस है!

देवलकवृत्ति शास्त्रतः कहीं निन्दित तो कहीं अनिन्दित भी हो सकती है. जैसे सौत्रामणिमें सुराका विधान है, अन्यत्र सुराका स्पर्श भी निषिद्ध है. ऐसे है नियोगपद्धतिसे देवरसे गर्भधारण करनेकी विधवाको छूट भी थी और कलियुगमें निषेध भी. ऐसे गवालंभन भी कहीं-कभी विहित था तो कहीं-कभी निषिद्ध. इसी तरह पुष्टिमार्गियितर वैष्णव या शैव उपासनामें कभी कहीं देवलकताको दोष न माना हो एतावता पुष्टिमार्गमें वह दोष नहीं —यह कहना उल्लिखित कण्ठोक्त निन्दाओंके रहते कितना बडा वाक्छल है! यह असन्मार्गसे वित्तोपार्जन करनेका कैसा अधर्माग्रह है? यदि पू.पा.गोस्वामी महाराजोंको उनके सेव्य भगवत्स्वरूपके निमित्त या उद्देश्य करके जो कुछ दर्शनार्थिओंके द्वारा भेट-सामग्री दी जाती हो उसपर दर्शनार्थी (मैं शिष्य नहीं लिखता क्योंकि दुकानोंकी तरह भक्तिके व्यापारार्थ चलनेवाले इन आधुनिक मंदिरोंमें शिष्य ही आते हैं इसकी कोई गैरन्टी नहीं है :गो.श्या.म.) जनताद्वारा दिये जाते वित्तपर जनताका स्वत्व रखना या नहीं यह गुरुकी इच्छापर अधीन हो और ऐसे सारेके सारे द्रव्यपर गुरुका पूर्ण स्वत्व हो जाता हो तो किशोरीबाईके ठाकुरजीके लिये दी गई सामग्रीपर किशोरीबाईका स्वत्व होना चाहिये था. यदि कहा जाये कि देनेवाला वैष्णव न तो किशोरीबाईके परिवारका था और न उनका शिष्य तो क्या हुआ? एक वैष्णव दूसरे वैष्णवको कुछ उपहार नहीं दे सकता क्या? यदि नहीं तो पू.पा.महाराजोंकी मुखियादिकी फौजको सेवकी भी न दे पायेगा! इसका उत्तर अब खुलकर देना पडेगा. यदि एक वैष्णव दूसरेको उपहार दे सकता है परन्तु भगवदर्थ देनेसे वह देवद्रव्य बन जाता हो तो गोस्वामिओंके यहां भी वही व्यवस्था होनी चाहिये. या फिर आधुनिक गोस्वामी असन्मार्गवर्ती देवलक हैं —यह स्वीकारना चाहिये. और इस दोषको दूर करनेका प्रयत्न सर्वप्रथम मनसे, पश्चात् वाणीसे तथा अन्ततः कृति = आचरणसे भी करना ही चाहिये.

आजकल कुछ लोग कह रहे हैं कि अन्य भी ऐसे अनेक स्खलन हैं उन्हें सुधारनेकी बात न करके क्यों मंदिरोंपर ही महमद गजनवीकी तरह हमला किया जा रहा है? उत्तर सीधा है, कि अन्य स्खलन व्यक्तिगत है जिन्हें न तो वैष्णव धर्मबुद्ध्या देखते हैं और न पू.पा.महाराजश्री उन्हें खुलेआम धर्मबुद्ध्या अनुसरणीय घोषित करते हैं. अतः वह व्यक्तिगत समस्या है, साम्प्रदायिक नहीं.

अतएव मुझे भी इस परिच्छेदको समाप्त करनेसे पहले जहां-जहां वैयक्तिक सन्दर्भोंमें सिद्धान्तापसिद्धान्तका विशोधन करना पडा है, अर्थात् विमर्शकारके जैसी शुद्ध निर्वैयक्तिक भाषामें सिद्धान्त मैं लिख नहीं पाया हूं, मुझे तो अपनी इस असामर्थ्यका भी न केवल पूर्ण भान है अपितु कुछ अपराधबोध भी है. परन्तु क्योंकि साथ ही साथ मुझे यह भी अच्छी तरह अवगत है कि स्वयं विमर्शकारने भी अपने शुद्ध सिद्धान्तबोधके आधारपर प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकट नहीं किया है, अपितु अर्थलोलुपतावश तथा पदप्रतिष्ठामोहवश ही यह अकाण्डताण्डव किया है. अतः उस खीजमें मैंने भी यह प्रतिअकाण्डताण्डव कर दिया है! और इसके लिये हृदयसे क्षमायाचनाके अलावा मेरे पास अन्य कोई उपाय भी नहीं है. विमर्शकार मुझे क्षमा करके मेरी आपत्तिओंपर अपना कोई ठोस निराकरण प्रस्तुत करते हैं तो मैं उस ऋणसे कभी उऋण नहीं हो पाउंगा. यदि क्षमा नहीं करते और मौन धारण कर लेते हैं; जैसे 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य'के बारेमें धारण कर लिया था, तो भगवदिच्छा!

अन्तमें —

युक्तिभिरतिशिथिलाभिः समादधानो दृढान्दोषान्।
वल्लभरायोपि विमर्शग्रन्थव्याजेन दूषणं वक्ति॥

इस तरह गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहरविरचित सेवा-देवद्रव्यादिविमर्श तथा सेवादेवद्रव्यादिसारसंग्रह क्रोडपत्रसहितकी विशोधनिकामें प्रथम सिद्धान्तमुक्तावल्युक्त-सेवास्वरूपविषयकसिद्धान्तनिरूपणार्थ सेवाप्रकरणनामक प्रथम प्रकरण यहां समाप्त होता है.*

॥ सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु ॥

* * *

---

*इसके बाद (२) शास्त्रीय सन्दर्भमें पुष्टिमार्गीयसेवार्थ आजीविकास्वरूपविशोधनिका (३) वार्ताविमर्शविशोधनिका (४) ट्रस्टप्रकरणविमर्शविशोधनिका (५) भावसंगोपनविमर्शविशोधनिका तथा (६) क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य'अन्तर्गत स्मृति-सदाचारप्रकरणरूप परिशिष्टोपेतका प्रकाशन क्रमशः होगा.

परिशिष्ट

(१)

जो कटोरी (गिरवी) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यको आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं **अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो.** वाके लिये गोअनकों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो.

—पुष्टिसिद्धान्तप्राकट्यकारी महाप्रभु श्रीवल्लभ (घरुवार्ता ३).

(२)

वैष्णवे सेवा, भगवद्स्मरण, भगवद्धर्म इनमें पाखंड न करनो. ओर काहुके दिखायवेके अर्थ, पुजा अर्थ, उद्धारार्थे न करे. आपनो सहज धर्म जानें, जेसे ब्राह्मण गायत्री जपे. लाभ संतोषसुं सेवा करे...ओर विवेक बिना पुजा सेवा करे तो नर्कमें पडे, ओर पाखंडीकी पूजा,सेवा प्रभु अंगीकार न करे...अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा आपुही करनी. **ओर उत्सवादि समय अनुसार अपने वित्त अनुसार** वस्त्र, आभुषण, भांतिभांतिके मनोरथ करि सामग्री करनी... सो रीतिप्रमाण यथाशक्ति करनी. जो द्रव्य होय सो श्रीकृष्णके अर्थ लगावनो, कृपणता नाहीं करनी.

—पुष्टिसिद्धान्तपालनकारी श्रीवल्लभ गोकुलनाथजी (२४ वचनामृत: ६ तथा १०).

(३)

आ जीव पूर्णपुरुषोत्तममांथी प्रगट थयो होय तो एने पूर्णपुरुषोत्तम उपर स्नेह उपजे. माटे आ जीव जे करे छे ते स्नेह विना करे छे. **अने जे श्रीवल्लभकुळ छे ते पोताना सेव्यस्वरूप उपर केवो स्नेह राखे छे? के एक बाजु द्रव्यनो ढगलो करो, अने एक बाजु श्रीठाकोरजीने पधरावो, तो श्रीवल्लभकुल ए द्रव्य सामुं जोशे पण नही, अने श्रीठाकोरजीने अतिस्नेह करीने पधरावी लेशे.** पण जे आ कळीना जीव छे तेने तो द्रव्य घणुं प्रिय छे. माटे ते तो श्रीठाकोरजी सामुं जोशे नहीं. अने केवळ वैभव सामुं जोशे अने तरत मोह पामशे. माटे जीवमां ने श्रीवल्लभकुलमां घणो फेर छे.

...जीव सेवा भजन करशे पण मन लौकिकमां राखशे तो तेथी लोक रीझशे. पण प्रभु नहीं रीझे. माटे जो प्रभुने प्रसन्न करवा होय तो लौकिक कामना छोडीने सेवा करे तो प्रभु प्रसन्न थाय.

—(श्रीमट्टुजी महाराजकृत ३२ वचनामृत : ५,१८).

(४)

...श्रीठाकुरजी पधरायके सेवा करन लागी. सुत कांतीके निर्वाह चलावे. हरहंमेश अढाई आने कमावे तासों निर्वाह आनंदसों चलावे. तब एक दिन एक वैष्णवने रुपीआ पांच देके कह्यो— आज श्रीठाकुरजीको आछी भांतसों आरोगावो. तब श्रीठाकुरजीके लिये बहोत प्रकारके व्यंजन किये, छेऊ रसको राजभोग धरे. पीछे श्रीको अनोसर कियो. तब श्रीठाकुरजी किशोरीबाईसों कहे— मोकुं भुख लागी है. तब किशोरीबाईने कह्यो—आज बहोत सामग्री आरोगाई है, तब भुखे क्यों भये? तब श्रीठाकुरजी कहे—**आज तैंने पराई सत्ता धराई है, सो मैं नहि आरोग्यो. तातें वैष्णवको पराई वस्तु अंगीकार न करावनी.**

—पुष्टिसिद्धान्तपोषणकारी श्रीवल्लभ (कामवनवाले) (६९ वचनामृत: ५३)

(५)

...तेवी ज रीते आपणे त्यां सन्मुखभेट थाय छे ते पण देवद्रव्य छे अने ते सामग्रीना काममां नथी आवती. श्रीगोकुलनाथजी अने श्रीचन्द्रमाजी ना घरमां हजी आ नियमनुं पालन थाय छे. त्यां जे सन्मुखभेट थाय छे ते कीर्तनियो लई जाय छे. ए कीर्तनियो महावनियो होय छे. ते वल्लभकुलनो, यमुनाजीनो गोर होय छे. बीजो तेनुं अनुकरण करे ते खोटुं ... अमे श्रीनाथजी अगाडी जे सन्मुखभेट धरीए छीए ते श्रीमहाप्रभुजीनी पादुकाजीने धरीए छीए छतां ते अलंकारादिकमां वपराय छे, सामग्रीमां नहीं. **सन्मुखभेट धरवामां घणो अनाचार थाय छे.**

...श्रीठाकोरजी निमित्ते कांई मंगाय नहीं के कांई अपाय नहीं. ए रीते आवेल द्रव्य देवद्रव्य बने अने श्रीठाकोरजी ते अंगीकार करे नहीं एटले सामग्री महाप्रसाद थाय नहीं अने ते लेनारनी बुद्धि बगड्या वगर न रहे.

—श्रीरणछोडलालजी महाराज राजनगरवाळा (वचनामृत : ४८४,४८७).

(६)

सेवा ए जाहेर कार्य के जाहेर प्रवृत्ति नथी परन्तु सेवा ए पोताना आंतरिक जीवन साथे संबंध धरावती होवाथी ते आपणा जीवननी आपणा

निजी घरमां थती स्वधर्मरूप प्रवृत्ति छे... पोताना माथे बिराजता स्वरूपनी सेवा वगेरेनो पोताना अंगत धर्माचरण तरीके ते ते बालकोनो ज अधिकार अने कर्तव्य छे.

—अधुना पुष्टिसिद्धान्तविनाशार्थ विमर्शकारी श्रीवल्लभ (सुरतवाले)
(पुष्टिने शीतल छांयडे: भाग १ पृ.१५८).

(७)

प्रेमपद्धतिने अनुसार ग्राह्य थयेलां पुष्टिभक्तिनां आ साधनो 'तनुजा' 'वित्तजा' सेवारूपे प्रसिद्ध छे. ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' इत्यादि आचार्यवाक्यो अत्रे स्पष्ट छे. आ तनुजा वित्तजा चित्तनी प्रवणतावाळी मानसीना साधनरूपे कहेली छे. एथी शरीर अने द्रव्यना संबंधवाळां सर्वे साधनो आ अवस्थानी सेवामां ग्राह्य छे. यदि शरीर अने द्रव्यना संबंधवाळा एकपण साधनने जो सेवारूप भक्तिथी पृथक राखवामां आवे तो तेटला अंशथी आ साधनात्मक सेवा अपूर्ण रहे अने तेथी भगवान प्रति चित्तनी प्रवणतामां पण तेटली ज त्रुटि रहेवानी संभावना बनी रहे. एतदर्थ अत्रे तनुवित्तजावाळां साधनोने जाणवां आवश्यक छे. तनुवित्तजामां तनुजानुं प्राधान्य छे, केमके द्रव्यादि शरीरथी ज प्राप्त थता होई ते वित्तजा तेना अंगरूपे ज ग्राह्य छे. **अतः केवळ द्रव्यथी कराववामां आवती सेवा फलदायी थती नथी. तेमां शरीरनो संबंध पण अवश्य होवो ज जोईए.**

—श्रीद्वारकादास परीख (पुष्टिमार्ग : पृ.३०-३१).

* * *

स्वसिद्धान्त

(१) अपने मार्गमें भगवत्सेवा स्वगृहमें ही करनी चाहिये, सार्वजनिक मंदिरमें नहीं.

(२) भगवत्सेवार्थ दूसरेको धन देनेसे अहंकार बढता है, भगवत्प्रेम नहीं. भगवत्सेवार्थ दूसरेका धन स्वीकारनेपर वह सेवा भाडूती सेवा बन जाती है.

(३) भगवत्सेवा स्वधर्म है, स्ववृत्ति या आजीविका नहीं.

(४) अपने भावात्मक सेव्य प्रभुका सार्वजनिक प्रदर्शन करनेपर हृदय भावशून्य बन जाता है.

(५) वृत्त्यर्थ या चंदा एकत्रित करने की जाती भगवत्कथा श्रीमद्भागवतका अनादर है.

* * *

Printed At Rajmudra Bombay - 400 025